शैक्षणिक संदर्भ

वर्ष: 18 अंक 104 (मूल क्रमांक 161)
नवम्बर-दिसम्बर 2025 मूल्य: ₹ 50.00

सम्पादन
राजेश खिंदरी
माधव केलकर

सहसम्पादक
पारुल सोनी

सम्पादकीय सहयोग
हिमांशु बावनकर
अतुल वाधवानी

सम्पादकीय सलाहकार
सुशील जोशी
उमा सुधीर

आवरण: राकेश खत्री

वितरण: झनक राम साहू

सहयोग: कमलेश यादव

शैक्षणिक

संदर्भ

वर्ष: 18 अंक 104 (मूल क्रमांक 161)
नवम्बर-दिसम्बर 2025 मूल्य: ₹ 50.00

मूल्य: ₹ 50.00

एकलव्य फाउण्डेशन
जमनालाल बजाज परिसर
जाटखेड़ी, भोपाल-462 026 (म.प्र.)
फोन: +91 755 297 7770, 71, 72, 4200944
www.sandarbh.eklavya.in
सम्पादन: sandarbh@eklavya.in
वितरण: circulation@eklavya.in

अब *संदर्भ* आप तक पहुँचेगी मैगज़ीन पोस्ट से।

सदस्यता शुल्क	एक साल (6 अंक)	तीन साल (18 अंक)	आजीवन
	600.00	1500.00	10000.00

मुखपृष्ठ: ***फैन थ्रोटेड लिज़र्ड की तस्वीर।*** क्या आप जानते हैं कि पवनचक्कियों के 'पंखों' का इन पंखनुमा गले वाली छिपकलियों के सुरक्षित महसूस करने से सीधा नाता है? किशोर पंवार और श्वेता भावसार के इस गहरे अध्ययन और अवलोकनों से भरे मज़ेदार लेख में जानें कि किस तरह पवनचक्कियाँ अपने स्थानीय परिवेश पर कई-कई प्रभाव डालती हैं। पढ़िए पृष्ठ 07 पर।

कवर 3: ***गोह उर्फ मॉनिटर लिज़र्ड की तस्वीर।*** लपलपाती जीभ लेकर घूमने वाली इस छिपकली को क्या कभी बिल बनाते देखा है? इसके बिल कैसे होते होंगे? जानने के लिए पढ़िए कालू राम शर्मा का लेख, पृष्ठ 89 पर।

पिछला आवरण: ***कुक्कू कैटफिश की तस्वीर।*** गौरतलब है कि यह बिल्ली की हमधब्बा मछली किसी अन्य मछली के मुँह में अपने अण्डे रखने के खूब जतन करती है। जीव जगत में इस तरह अपने बच्चों को किसी और के हवाले करने वाला व्यवहार कई प्राणी करते हैं। विपुल कीर्ति शर्मा के इस लेख में ऐसे ही कुछ विस्मित करने वाले जीवों के व्यवहार का बयान है। पृष्ठ 15 पर पढ़ते हुए सोचिए – आखिर क्यों!

यह अंक त्रिवेणी एजुकेशनल ट्रस्ट के वित्तीय सहयोग से प्रकाशित किया जा रहा है।

LINK : कवर 1 - https://www.cnbctv18.com/photos/economy/up-close-and-personal-with-fan-throated-lizard-174771-4.htm
कवर 4 - https://www.eurekalert.org/news-releases/536641

इस अंक में उन चित्रों के स्रोत जिनके बारे में चित्र या लेख के साथ उल्लेख नहीं है, इंटरनेट की विविध वेबसाइट हैं।

आगामी प्रकाशन

शिक्षा और जन आन्दोलन

लेखन: साधना सक्सेना

मूल्य: ₹230

देश के अलग-अलग हिस्सों में वंचित समुदायों की शिक्षा के लिए किए गए शैक्षिक प्रयासों और उनसे उपजे जन-संघर्षों व आन्दोलनों पर आधारित यह किताब एक गहन शोध का परिणाम है। इस किताब में शिक्षा की पहुँच और सीमाओं से जुड़े ऐसे कई पहलुओं को उजागर किया गया है जो आम तौर पर चर्चा का विषय नहीं बन पाते।

यह किताब शिक्षकों, सामाजिक कार्यकर्ताओं, शोधार्थियों, विद्यार्थियों और उन सभी पाठकों के लिए जो शिक्षा के सामाजिक-राजनीतिक परिप्रेक्ष्य को समझने में रुचि रखते हैं, बेहद उपयोगी साबित होगी।

विशेष लाइब्रेरी संस्करण हार्डबाउंड में भी उपलब्ध!! मूल्य: ₹450

आज ही अपनी प्रति बुक करें:

एकलव्य

एकलव्य फाउंडेशन
जमनालाल बजाज परिसर, जाटखेड़ी, भोपाल - 462 026 (मप्र)
फोनः **+91 755 297 7770-71-72;** ईमेलः **pitara@eklavya.in**
www.eklavya.in | www.eklavyapitara.in

चालकेवाड़ी पवन ऊर्जा संयंत्र और...

जलवायु का संकट बढ़ता ही जा रहा है। ऐसे में, पवन ऊर्जा का दोहन करना पर्यावरण के लिए बेशक हानिरहित लग सकता है। मगर क्या हानिरहित व सरल-सहज लगने वाली पवनचक्कियों की बड़ी-बड़ी पंखियाँ सचमुच अपने स्थानीय परिवेश पर कोई नकारात्मक असर नहीं डालतीं? यही पता लगाने के लिए अनेक शोध किए गए हैं, जिनमें से एक महाराष्ट्र के सातारा ज़िले में किए गए अध्ययन पर आधारित है। शोध के किरदार हैं एक चील, एक छिपकली और एक पवनचक्की। नतीजे विस्मित करते हैं, पढ़िए।

07

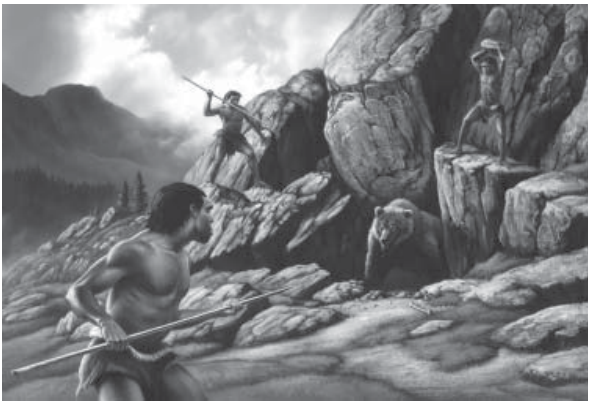

बच्चों ने तैयार किया अपने गाँव का इतिहास

इतिहास किताबों में बन्द है या हमारे आसपास फैला हुआ है? एक कक्षा में शिक्षार्थियों को इतिहास से रूबरू करवाने के बहुत-से तरीके हो सकते हैं, प्रकाश कान्त ऐसे ही कई तरीके चुनते हैं। अपने गाँव का इतिहास पता करने से शुरू होता हुआ कक्षा का सफर, शिकारी मानवों के हथियारों और औज़ारों को ढूँढने तक जाता है। इस बीच भाषा, लिपियाँ और इतिहास के अन्य आयामों से बच्चे और उनके शिक्षक जुड़ते-जूझते रहते हैं। प्रकाश कान्त के इस लेख में इतिहास के साथ-साथ एक शिक्षक के फलसफे, जुगत और कुछ अफसोस के पन्ने भी शामिल हैं।

63

शैक्षणिक संदर्भ

अंक-104 (मूल अंक-161), नवम्बर-दिसम्बर 2025

इस अंक में

04 | सर्च फॉर लॉस्ट बड्र्स
संकेत राउत

07 | चालकेवाड़ी पवन ऊर्जा संयंत्र और...
किशोर पंवार और श्वेता भावसार

15 | तुम सम्भालो मेरे बच्चों को
विपुल कीर्ति शर्मा

25 | विश्व विजेता दस
आमोद कारखानीस

31 | साप्ताहिक बाज़ार: दुनियादारी का गणित
अनिल सिंह

38 | स्कूल के ढाँचे में लोकतंत्र के प्रयोग
अमित और जयश्री

61 | झगड़ी
संजय कुमार तिवारी

63 | बच्चों ने तैयार किया अपने गाँव का इतिहास
प्रकाश कान्त

71 | मंतोड़ा
श्रेया खेमानी

79 | मौत के कुएँ में चलते वक्त वाहन गिरते क्यों नहीं हैं?
सवालीराम

89 | गोह का विशाल बिल
कालू राम शर्मा

सर्च फॉर लॉस्ट बर्ड्स

विलुप्त जेरडॉन कॉर्सर का मिलना, खो जाना और फिर एक नया सुराग

संकेत राउत

'सर्च फॉर लॉस्ट बर्ड्स' नामक सूची अमेरिकन बर्ड कंज़र्वेन्सी द्वारा संयोजित एक अन्तर्राष्ट्रीय प्रयास है। इस सूची में वे पक्षी शामिल किए जाते हैं जिनकी कम-से-कम दस वर्षों से कोई पुष्टि नहीं हुई हो। इस सूची में भारत से शामिल प्रजातियों में से एक है जेरडॉन कॉर्सर *(Rhinoptilus bitorquatus)* जिसकी अन्तिम उपस्थिति वर्ष 2008 में दर्ज हुई थी।

संदर्भ अंक-155 (नवम्बर-दिसम्बर, 2024) में प्रसिद्ध पक्षी विशेषज्ञ भारत भूषण का लेख 'समय के गहरे अँधेरे से निकली एक चिड़िया' प्रकाशित किया गया था। यह लेख उनके व्यक्तिगत अनुभव पर आधारित था जिसमें उन्होंने सन् 1986 में श्री लंकामल्लेश्वर वन्यजीव अभयारण्य में जेरडॉन कॉर्सर की पुनः खोज की रोमांचक घटना का वर्णन किया था। दरअसल, इस घटना से पहले वर्ष 1900 के बाद से जंगल की गहराइयों में छिपा जेरडॉन कॉर्सर लगभग विलुप्त ही माना जा रहा था।

सन् 1986 में पुनः खोज के बाद कुछ वर्षों तक तो जेरडॉन कॉर्सर की उपस्थिति दर्ज होती रही लेकिन सन् 2008 के बाद से इसके बारे में कोई भी विश्वसनीय जानकारी सामने नहीं आई।

शोधकर्ताओं और पक्षी प्रेमियों ने अनेक अभियानों के माध्यम से जेरडॉन कॉर्सर को खोजने की कोशिश की लेकिन इसे जंगल में ढूँढना भी तो आसान नहीं है। भूरे रंग की छटा इसे झाड़ियों में अदृश्य-सा बना देती है। साथ ही, इसके निशाचर होने और छुपकर रहने की आदत के कारण इसकी खोज और भी कठिन हो जाती है। यहाँ तक कि अत्याधुनिक उपकरणों के बावजूद इसे खोजा नहीं जा सका और हर असफल प्रयास के बाद यह सवाल भी गहराता गया कि यह पक्षी अब कहीं जीवित बचा भी है क्या?

फिर भी, खोज का सिलसिला थमा नहीं। जब श्री लंकामल्लेश्वर अभयारण्य के भीतर जेरडॉन कॉर्सर का कोई सुराग नहीं मिला, तो पक्षी विशेषज्ञों ने पहली बार अभयारण्य के बाहर सम्भावित आवास क्षेत्रों में अभियान चलाने का निश्चय किया। हरीश थंगराज, शशांक दळवी, आदेश शिवकर, रोनिथ उर्स और प्रणव ने मिलकर जुलाई-अगस्त, 2025 में विशेष खोज अभियान की तैयारी की और अगस्त के अन्तिम सप्ताह में अभियान शुरू किया।

आश्चर्यजनक रूप से, अभियान के पहले ही दिन की वह सुबह इतिहास बन गई, जब 16 साल से गुमशुदा जेरडॉन कॉर्सर की आवाज़ फिर से सुनाई दी। इस आवाज़ को रिकॉर्ड करके, इस पक्षी की उपस्थिति की पुष्टि की गई। यह वही पक्षी था जो पिछले 16 वर्षों से शोधकर्ताओं और पक्षीप्रेमियों की नज़रों से ओझल था। लेकिन प्रकृति हमें हमेशा चौंकाती है। इस ध्वनि ने एक बार फिर जेरडॉन कॉर्सर के जीवित होने की गवाही दी।

गौरतलब है कि सन् 2008 तक जेरडॉन कॉर्सर की उपस्थिति केवल श्री लंकामल्लेश्वर अभयारण्य के भीतर ही दर्ज की गई थी। लेकिन अब लगभग 125 वर्षों बाद, पहली बार अभयारण्य के बाहर इस पक्षी की मौजूदगी का अप्रत्यक्ष सुराग मिला है। अप्रत्यक्ष इसलिए क्योंकि अभी भी उसे देखा नहीं गया है, केवल विशिष्ट

आवाज़ रिकॉर्ड करके मैच की गई है।

जेरडॉन कॉर्सर जैसी दुर्लभ प्रजातियों के संरक्षण के लिए उन्हें खोजकर दर्ज करना ज़रूरी है। अब जब इसकी उपस्थिति का प्रमाण मिल चुका है, तो इसके संरक्षण की दिशा में ठोस प्रयास शुरू किए जा सकते हैं। और इसलिए ऐसी खोजबीन अत्यन्त महत्वपूर्ण होती है।

गायब-सा हो चुका एक पक्षी जब अचानक सामने आता है तो वह सिर्फ एक खोज नहीं, बल्कि उम्मीद की किरण बन जाता है। *संदर्भ* में छपा वह लेख ऐसी उम्मीद बरकरार रखने का कार्य करता है। संयोगवश, *संदर्भ* में पिछले साल यह लेख छपने के महज़ एक साल के भीतर ही जेरडॉन कॉर्सर की पुनः खोज की गई।

किसी भी जगह-विशेष से किसी पक्षी का मिलना, खो जाना या लुप्त होना प्रमुखत: वहाँ की पारिस्थितिकी में होने वाले बदलावों पर निर्भर करता है। इन बदलावों का सीधा असर इन्सान पर भी पड़ता है। इन दोनों वजह से बहुत ही ज़रूरी है कि ऐसी खोजबीन लगातार जारी रहे।

जेरडॉन कॉर्सर की पुनः खोज एक उपलब्धि है जो न केवल भारत के लिए बल्कि पूरे विश्व के उन शोधकर्ताओं और प्रकृतिप्रेमियों के लिए उत्साहवर्धक है, जो वर्षों से लुप्तप्राय पक्षियों की खोज में लगे हुए हैं। इस खोज ने यह साबित किया है कि प्रकृति के रहस्य अभी भी अनगिनत हैं और उन्हें जानने के लिए धैर्य, जुनून और लगातार प्रयास ज़रूरी हैं।

तो हमें शिद्दत से अन्य गुमनाम जीवों की खोज करते रहने की ज़रूरत है, क्योंकी जेरडॉन कॉर्सर की पुनः खोज हमें याद दिलाती है – जब तक उम्मीद ज़िन्दा है, प्रकृति हमें चमत्कार दिखाती रहेगी।

संकेत राउत: वन्यजीव प्रेमी हैं तथा वन्यजीव अध्ययनों में भाग लेते रहते हैं। पक्षी और तितलियाँ रुचि के मुख्य क्षेत्र हैं। जंगली जानवरों के बारे में पढ़ने में और उनके व्यवहार का विश्लेषण करने में आनन्द आता है। शिक्षा के क्षेत्र में कार्यरत हैं और शिक्षक प्रशिक्षण का कार्य करते हैं।

सन्दर्भ: यह लेख BirdLifeInternational (birdlife.org/news) की वेबसाइट पर 10 सितम्बर, 2025 को प्रकाशित लेख Glimmer of Hope: Sought After Lost Bird Rediscovered in India पर आधारित है।

चालकेवाड़ी पवन ऊर्जा संयंत्र और उनका स्थानीय परिवेश पर प्रभाव

किशोर पंवार और श्वेता भावसार

पिछले दो दशकों से भारत में ग्लोबल वॉर्मिंग की चर्चा और धरती की गरमाने की गति को कम करने के विविध उपायों को व्यावहारिक धरातल पर उतारने के प्रयास चल रहे हैं। इसके तहत बिजली निर्माण में कोयले के स्थान पर सौर ऊर्जा और पवन ऊर्जा को अपनाने के प्रयास तेज़ किए गए हैं। पिछले कुछ सालों में हमें सौर पैनल हर जगह देखने को मिल जाते हैं लेकिन पवन ऊर्जा के संयंत्रों से हमारा वास्ता कम ही पड़ता है। चूँकि पवन ऊर्जा के दोहन के लिए ज़रूरी है कि ऐसी जगहों को चिन्हित किया जाए जहाँ साल में अधिकतर समय निरन्तर हवा का ज़रूरी प्रवाह मिलता रहे और पवन चक्की की लम्बी-लम्बी पंखियाँ लगातार घूमती रहें इसलिए पवन ऊर्जा संयंत्र कुछ विशेष स्थानों पर ही बड़ी संख्या में दिखाई देते हैं।

पवन ऊर्जा व पर्यावरणीय सन्तुलन

कोयले के दहन से निकलने वाली गैसों से वायुमण्डल को होने वाले नुकसान को हम समझ चुके हैं। ऐसे

में, पवन ऊर्जा संयंत्रों का सरल-सहज एवं हानिरहित लगना स्वाभाविक है। यदाकदा यह ज़रूर कहा जाता रहा है कि इसकी पंखियों की चपेट में आकर कई बार पक्षी मारे जाते हैं। बाकी तो इसे 'ग्रीन और क्लीन ऊर्जा' ही कहा जाता है।

भारत में गुजरात, तमिलनाडू, कर्नाटक, महाराष्ट्र, राजस्थान, आंध्रप्रदेश, मध्यप्रदेश, तेलंगाना जैसे कई राज्यों में ऐसी जगहें या साइट्स पहचानी गईं जहाँ पवन ऊर्जा का भरपूर दोहन किया जा सके। महाराष्ट्र का सातारा ज़िला ऐसी ही एक प्रमुख जगह है जहाँ पवन ऊर्जा की ढेर सारी सम्भावनाएँ हैं। सातारा पश्चिमी घाट पर्वतमाला की पूर्वी ढाल पर बसा एक ज़िला है जिसके पश्चिम की ओर पश्चिमी घाट के पहाड़ एवं भरपूर हवा और बारिश वाले इलाके हैं तो दूसरी ओर कम वर्षा और घास व झाड़ियों वाले इलाके हैं। पवन ऊर्जा के लिहाज़ से सातारा ज़िले के पाटन, वाई, खटाव, मान, जावली, कोरेगाँव, कराड और फलटण में उपयुक्त जगहों का चयन करके सैकड़ों पवन ऊर्जा संयंत्र लगाए गए हैं। इन्हें बोलचाल की भाषा में विंड एनर्जी पार्क या फार्म भी कहते हैं क्योंकि एक ही परिसर में कई विंड टरबाइन लगाए गए हैं। कई बार एक ही जगह पर इनकी संख्या 100 तक भी हो जाती है और टरबाइन के टॉवर की ऊँचाई 80-100 मीटर तक भी होती है। इस इलाके में सन् 1996 में संयंत्र लगाने का काम शुरू हुआ

क्यों महत्वपूर्ण है पश्चिमी घाट?

पश्चिमी घाट वनस्पतियों और जीवों की समृद्धि के कारण दुनियाभर में जैव विविधता के हॉटस्पॉट के रूप में दर्ज हैं। यह पहाड़ों की एक शृंखला है जो गुजरात, महाराष्ट्र, गोवा, कर्नाटक, केरल और तमिलनाडु सहित कई राज्यों में 1600 किलोमीटर तक फैली हुई है। पश्चिमी घाट दुनिया की सबसे विशाल पर्वत शृंखलाओं में से एक है जो भारत के सेशल्स द्वीप से अलग होने के लगभग 65 मिलियन वर्ष पहले अस्तित्व में आए थे। पश्चिमी घाट यूनेस्को द्वारा घोषित विश्व विरासत स्थल है, और दुनियाभर के दस सबसे महत्वपूर्ण हॉटस्पॉटों में इसकी गिनती होती है। यहाँ लगभग 7000 पौधों की प्रजातियाँ मिलती हैं जिनमें से 650 वृक्ष हैं, इनमें 54% स्थानिक हैं। जन्तु विविधता भी बहुत अधिक है। उभयचर की 179 प्रजातियाँ हैं जिनमें 65% स्थानिक हैं। सरीसृपों की 157 व मछलियों की 219 प्रजातियाँ हैं, इनमें से 50% से ज़्यादा स्थानिक हैं। यहाँ पक्षियों की 508 प्रजातियाँ पाई जाती हैं जिनमें से 16 स्थानिक हैं।

स्थानिक प्रजातियाँ उन्हें कहते हैं जो विशेष रूप से किसी विशिष्ट भौगोलिक क्षेत्र में ही पाई जाती हैं, अर्थात् ये प्रजातियाँ विश्व में किसी अन्य स्थान पर प्राकृतिक रूप से नहीं मिलतीं। इस लिहाज़ से, स्थानिक प्रजातियों के लिए पश्चिमी घाट बहुत ही महत्वपूर्ण बायोडायवर्सिटी हॉटस्पॉट माना जाता है।

और सन् 2020 तक लगभग 1891 विंड टरबाइन लगाई जा चुकी थीं जिनसे बिजली का उत्पादन होता है।

शुरुआत में विंड टरबाइन को लेकर सब सुखद ही लग रहा था। हालाँकि, कुछ लोगों का यह विचार था कि इतनी बड़ी तादाद में विंड टरबाइन लगाने की वजह से सातारा और आसपास के ज़िलों की बारिश का सिस्टम बिगड़ा है या बारिश कम हो रही है। जल्द ही आईआईटीएम, पुणे (इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ ट्रोपिकल मेटेरियोलॉजी, पुणे) ने इस इलाके का अध्ययन कर सन् 2006 में बताया कि विंड टरबाइन की वजह से बारिश पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ा है।

लेकिन यहाँ तक आते-आते, इतने इफरात में विंड टइबाइन की मौजूदगी स्थानीय ईकोसिस्टम को प्रभावित करती है या नहीं, इस सम्बन्ध में भी अध्ययन शुरू हो गए थे। एक अनुमान के मुताबिक, सातारा ज़िले में पवन ऊर्जा से लगभग 175 मैगावॉट बिजली निर्मित होती है। इसमें से 30 मैगावॉट बिजली का निर्माण अकेले चालकेवाड़ी विंड फार्म से हो रहा था। पवन ऊर्जा का दोहन करने वाली निजी कम्पनियाँ भी ज़्यादा बिजली बनाने के दबाव में ज़मीन का अधिकतम उपयोग करना चाहती हैं। इस पृष्ठभूमि में जैव-विविधता, पारिस्थितिकी आदि में रुचि रखने वाले शोधकर्ताओं ने चालकेवाड़ी में अध्ययन शुरू किए। शुरू में तो पक्षियों की मॉनिटरिंग, मिट्टी का कटाव, जंगलों में बेढब तरीकों से बनाए गए रास्तों, फसलों आदि सम्बन्धी मुद्दों पर ध्यान खींचा गया लेकिन बाद में योजनाबद्ध तरीके से भी कई अध्ययन किए गए। ऐसे ही कुछ अध्ययनों की बात हम यहाँ करने वाले हैं।

भोजन शृंखला का बिगड़ता सन्तुलन

जब हम किसी स्थान विशेष के पारिस्थितिकी तंत्र की बात करते हैं तो इसका आशय होता है – उस जगह की हवा, पानी, ज़मीन, वनस्पतियाँ, ज़मीन पर व पानी में रहने वाले जीवों और आसमान में उड़ने वाले जीवों का आवास, भोजन, प्रजनन, एक-दूसरे पर निर्भरता वाले सम्बन्ध, वनस्पतियों और जीवों का सहसम्बन्ध, जीवों की भोजन शृंखला, जीवों के एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने के तयशुदा रास्ते, शिकार एवं शिकारी का सम्बन्ध आदि। वैसे तो यह तंत्र कुदरती तौर पर अपना सन्तुलन बनाकर चलता रहता है, लेकिन कभी-कभी बाहरी हस्तक्षेप होने पर तंत्र का सन्तुलन गड़बड़ा भी जाता है। ऐसी स्थिति में हमें पर्यावरण में सकारात्मक या नकारात्मक असर दिखने शुरू हो जाते हैं।

जैसा कि हमने पहले भी कहा, ऊँची विंड टरबाइन की पंखियाँ कई पक्षियों के लिए खतरनाक होती हैं क्योंकि कई बार पंखियों से टकराकर

पक्षी मारे जाते हैं। फर्ज़ कीजिए, ये पक्षी ज़मीन पर रहने वाले कुछ जीवों को अपना भोजन बनाते हैं। यदि ये पक्षी पंखियों से टकराकर इसी तरह मरते रहे तो इन शिकारी पक्षियों की कमी का असर, क्या इनके भोज्य जीवों पर नहीं पड़ेगा? यकीनन, इन शिकारी पक्षियों की कमी का असर ज़मीन पर रहने वाले जीवों पर भी पड़ता है। कहने को यह एक छोटा-सा बदलाव है लेकिन छोटा-सा परिवर्तन भी किस प्रकार बहुत सारे पर्यावरणीय घटकों पर प्रभाव डालता है, इस पर हमारा ध्यान कम ही जाता है। सातारा का चालकेवाड़ी अध्ययन इसी बात का एक बेमिसाल उदाहरण है कि किस तरह एक भोजन शृंखला में शीर्ष जीव की संख्या के कम होने का प्रभाव उस शृंखला के अन्य जीवों पर पड़ता है। इस कहानी के तीन प्रमुख किरदार हैं – विंड टाइबाइन, शिकारी पक्षी और शिकार होने वाले ज़मीनी जीव।

चालकेवाड़ी का अध्ययन

यह अध्ययन• सेंटर फॉर ईकोलॉजिकल साइंसेस (इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ साइंसेस, बैंगलोर) की मारिया ठाकर, अमोद ज़ांबरे और हर्षल भोसले ने मिलकर किया है। इस अध्ययन को महाराष्ट्र के सातारा ज़िले के चालकेवाड़ी इलाके में लगाए गए पवन ऊर्जा फार्म के पर्यावरणीय प्रभावों की जाँच के लिए किया गया था जिसके दौरान बड़े ही ध्यानाकर्षक एवं रोचक परिणाम सामने आए। पाया गया कि पवन ऊर्जा फार्म न सिर्फ पक्षियों के प्रवासन पैटर्न को प्रभावित करते हैं बल्कि पक्षियों, चमगादड़ों और स्थानीय स्थलीय जीवों को भी प्रभावित करते हैं।

अपने अध्ययन को और अधिक तार्किक एवं सटीक बनाने के लिए मारिया ठाकर और उनके साथियों ने कण्ट्रोल एक्सपेरिमेंट विधि को भी अपनाया। इसके तहत विंड टरबाइन वाले इलाके के तापमान, आर्द्रता, मिट्टी और वनस्पतियों से मेल खाते हुए विंड टरबाइन रहित इलाके को चुनकर, इन दोनों की तुलना करके वास्तविक फर्क को समझने की कोशिश की गई।

इन दोनों इलाकों में शिकारी पक्षी दिन के समय सक्रिय रहते हैं और अपने शिकार की तलाश में दूर-दूर तक उड़ते रहते हैं। शिकारी पक्षियों की संख्या का पता करने के लिए एक अनोखा तरीका अपनाया गया। प्रत्येक पक्षी को गिनने की बजाय उनके द्वारा शिकार के लिए किए गए प्रयासों की गिनती की। शिकारी पक्षियों की संख्या का पता लगाने का यह एक अप्रत्यक्ष तरीका है।

• *'Wind farms have cascading impacts on ecosystem across trophic levels' लेख सन् 2018 में नेचर ईकोलॉजी एवं इवोल्यूशन जर्नल में प्रकाशित हुआ।*

इन शोधकर्ताओं ने एक ही मौसम में विंड टरबाइन और गैर-विंड टरबाइन वाले इलाकों में शिकार के प्रयासों की गणना की। उन्होंने पाया कि चालकेवाड़ी पठार पर टरबाइन वाले इलाकों में शिकारी पक्षियों की आबादी बिना टरबाइन वाले क्षेत्र की तुलना में तीन गुना कम थी।

शिकारी व शिकार पर असर

इस क्षेत्र में व्हाइट आइड बज़ार्ड और ब्लैक शोल्डर्ड काइट (चील) जैसे शिकारी पक्षी स्थलीय जीव जैसे छिपकलियों का शिकार करते हैं। पंखनुमा गले वाली छिपकली (फैन थ्रोटेड लिज़र्ड) इन शिकारी पक्षियों के हमले के प्रति बड़ी ही संवेदनशील होती हैं। विंड फार्म वाले क्षेत्र में शिकारी पक्षियों की अपेक्षाकृत कमी, इन छिपकलियों के लिए एक राहत का काम करती पाई गई। शिकार बन जाने के खतरों से मुक्ति के असर उनके व्यवहार, आकार और कार्यिकी पर भी देखे गए हैं। शोधकर्ताओं ने विंड फार्म और गैर-विंड फार्म वाले, दोनों क्षेत्रों में छिपकलियों की संख्या का पता लगाया। साथ ही, इन छिपकलियों के शरीर में तनाव से बनने वाले हार्मोन कॉर्टिकेस्टीरॉन की मौजूदगी की इनके खून के नमूनों में जाँच की गई।

रिसर्च टीम ने यह भी देखा कि हल्की आहट में छुप जाने वाली इन छिपकलियों के कितने करीब तक पहुँचा जा सकता है। नतीजे बड़े मज़ेदार थे। छिपकलियों की आबादी विंड टरबाइन वाले क्षेत्र में तीन गुना अधिक थी, वहीं बिना विंड टरबाइन वाले क्षेत्रों में इन छिपकलियों के

चित्र-1: *व्हाइट आइड बज़ार्ड*

चित्र-2: *ब्लैक शोल्डर्ड काइट*

शिकारी पक्षी

ब्लैक शोल्डर्ड काइट

इस क्षेत्र में दो शिकारी पक्षी हैं - पहला, ब्लैक शोल्डर्ड काइट। यह एक अपेक्षाकृत छोटी पर बड़ी सुन्दर चील है। यह ऊपर से स्लेटी और नीचे से एकदम कपासी सफेद होती है। आँखों के ऊपर एक काली रेखा और कन्धों पर काले धब्बे इसकी खास पहचान हैं। ये अक्सर घास के मैदानी खेतों या हल्के जंगलों में अपने पँखों को 'वी' के आकार में रखते हुए धीरे-धीरे उड़ती रहती हैं और क्षेत्र का निरीक्षण करने के लिए एक ही जगह स्थित रहकर मण्डराती रहती हैं। शिकार दिखने पर तेज़ी-से नीचे की ओर डाइव करती हैं। टिड्डे, झींगुर, मेंढक, चूहे और छिपकलियाँ इसके मुख्य शिकार हैं।

व्हाइट आइड बज़ार्ड

यह एक सफेद आँखों वाला बाज़ है जो भोजन की तलाश में टेलीफोन के तारों या झाड़ियाँ पर बैठा रहता है। इसके गले व चेहर पर गहरे रंग की धारियाँ पाई जाती हैं। सिर नारंगी पीले रंग का और आँखें सफेद या पीली होती हैं। नर और मादा, दोनों एक-जैसे होते हैं। ये अक्सर हल्की झाड़ियों या निचले क्षेत्र में पाए जाते हैं। इनके शिकार में टिड्डे, झींगुर, छोटे-बड़े कीड़े-मकोड़े, चूहे, छिपकलियाँ तथा मेंढक शामिल हैं। लेकिन फैन थ्रोटेड छिपकली विशेष रूप से इनकी प्रिय शिकार होती हैं।

खून में कॉर्टिकेस्टीरॉन की मात्रा ज़्यादा थी।

विंड टरबाइन क्षेत्रों में छिपकलियों ने रिसर्च टीम को काफी पास यानी लगभग तीन मीटर तक करीब आने दिया, जबकि गैर-विंड टरबाइन क्षेत्रों में वे जल्दी ही भाग जाती थीं। यानी उन्हें यहाँ अपने लिए खतरा ज़्यादा महसूस होता था।

शोध के इन नतीजों से पता चला कि पवन ऊर्जा फार्म के कारण शिकारी पक्षियों में होने वाली कमी से छिपकलियों की संख्या तीन गुना तक बढ़ जाती है। इस तरह पवन ऊर्जा फार्म एक शीर्ष शिकारी की तरह कार्य करते हैं जिससे निचले स्तर के जीवों पर शिकारी से मुक्ति का प्रभाव पड़ता है। अतः वे सुरक्षित महसूस करते हैं। परिणामस्वरूप, छिपकलियों में तनाव के समय बनने वाले हार्मोन का उत्पादन कम होता है और वे बहुत पास आने पर ही शिकारी की उपस्थिति या खतरे पर अपनी प्रतिक्रिया देती हैं अर्थात् वहाँ से भाग जाती हैं।

यह भी पता चला है कि शिकारी की अनुपस्थिति के कारण इनकी चमक-दमक भी फीकी हो गई है। गले की झालर के रंग फीके हैं। फिरोज़ी और नारंगी रंग की चमक और मात्रा विंड टरबाइन वाले इलाके में कम पाई गई यानी यहाँ के नर, दूसरी

चित्र-3: *फैन थ्रोटेड लिज़र्ड*

जगह के नरों की तुलना में कम रंगीन व हल्की चमक वाले हैं। यह अन्तर उनकी प्रजनन क्षमता पर भी प्रभाव डाल सकता है क्योंकि मादाएँ गले की झालर के चटकीले रंगों के आधार पर ही नरों को चुनती हैं।

सम्भावित इतर प्रभाव

हालाँकि, यह अध्ययन पारिस्थितिकी तंत्र के सिर्फ तीन घटकों पर ही किया गया है। इन क्षेत्रों में छिपकली की संख्या बढ़ने पर, इनके द्वारा खाए जाने वाले जीवों की तो मानो शामत ही आ गई होगी। उनकी संख्या में कमी आना स्वाभाविक है। इस क्षेत्र में इस तरह के और भी अध्ययन किए जाने चाहिए। दूसरी तरफ, शिकारी पक्षियों जैसे ब्लैक शोल्डर्ड काइट और व्हाइट आइड बज़ार्ड की अनुपस्थिति से इनके द्वारा खाए जाने वाले अन्य छोटे-मोटे जीव-जन्तुओं की भी इस क्षेत्र में बढ़ोतरी होना स्वाभाविक है। चूँकि इस भोजन शृंखला में शीर्ष शिकारी अनुपस्थित है, अतः इन क्षेत्रों में चूहों और मेंढकों की संख्या का बढ़ना भी स्वाभाविक है जो साँपों की संख्या पर भी प्रभाव डालेंगे। हो सकता है, इस क्षेत्र में साँप भी अधिक मात्रा में मिलते हों।

इस तरह यह साफ तौर पर दिखाई देता है कि विंड टरबाइन ने इस क्षेत्र के पारिस्थितिकी तंत्र और विशेषकर फूड चेन या फूड वेब (भोजन जाल) को प्रभावित किया है। इन्सानी दखल यानी विंड फार्म ने

फैन थ्रोटेड लिज़र्ड

सराडा सुपरबा नाम की इस छिपकली का वर्णन सबसे पहले सन् 2016 में किया गया था। ये सुन्दर छिपकलियाँ दक्षिण पश्चिम मानसून के दौरान प्रजनन करती हैं और उनके करीब जाने पर वे लेटराइट चट्टानों की दरारों में छिप जाती हैं। 'सुपरबा' का अर्थ होता है – शानदार, भव्य।

ये छिपकली अपने प्रणय प्रदर्शन के लिए जानी जाती हैं। इनकी गर्दन के नीचे लटकने वाली त्वचा बड़ी रंगीन होती है। इनके गले पर बनी झालर में फिरोज़ी, फिर काला और उसके नीचे नारंगी रंग होता है। ये खुले मैदानों, पथरीले क्षेत्रों और हल्के जंगलों में पाई जाती हैं। मादा के गले में रंगीन पंखा नहीं होता। प्रजनन के मौसम में ही नर अपने गले के पंखों को खोलकर मादा को रिझाने का काम करते हैं। पिछले पैरों पर खड़े होकर वे प्रेम प्रदर्शन करते हैं। सातारा क्षेत्र में यह प्रजाति स्थानिक है अर्थात् और कहीं नहीं पाई जाती। ये कास पठार जो महाराष्ट्र में 'फूलों की घाटी' के नाम से जाना जाता है और चालकेवाड़ी पठार पर ही मिलती हैं।

फैन थ्रोटेड छिपकली शिकार और शिकारी, दोनों के रूप में महत्वपूर्ण हैं। एक ओर ये विभिन्न पक्षियों, साँपों और बड़े सरीसृपों के लिए उनका भोजन हैं, वहीं दूसरी ओर ये छोटे-मोटे कीटों जैसे बीटल्स को खाकर उनकी आबादी पर नियंत्रण रखती हैं। इस क्षेत्र में ये शिकारी और शिकार डायनामिक तंत्र की महत्वपूर्ण कड़ी हैं।

भोजन शृंखला के शीर्ष पर मौजूद शिकारी पक्षियों को इन इलाकों से बेदखल किया है जिसे आसानी-से देखा जा सकता है। अभी अन्य प्रभावों का अध्ययन किया जाना बाकी है। देखते हैं, पर्दे की आड़ में और कौन-कौन-से राज़ छुपे हैं और इन पर्दों को कौन उठाता है।

किशोर पंवार: शासकीय होल्कर विज्ञान महाविद्यालय, इन्दौर में बीज तकनीकी विभाग के विभागाध्यक्ष और वनस्पतिशास्त्र के प्राध्यापक रहने के बाद सेवानिवृत्त। 'होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम' से लम्बा जुड़ाव रहा है जिसके तहत *बाल वैज्ञानिक* के अध्यायों का लेखन और प्रशिक्षण देने का कार्य किया। *एकलव्य* द्वारा जीवों के क्रियाकलापों पर आपकी तीन किताबें प्रकाशित। शौकिया फोटोग्राफर, लोक भाषा में विज्ञान लेखन व विज्ञान शिक्षण में रुचि।

श्वेता भावसार: प्रकृति-प्रेमी, पक्षी निरीक्षक और पॉपुलर विज्ञान लेखिका हैं।

तुम सम्भालो मेरे बच्चों को

विपुल कीर्ति शर्मा

इस शृंखला में अब तक हम नर द्वारा मनपसन्द मादा की खोजबीन से शुरू करके, मादाएँ क्या चाहती हैं तक, सभी मुद्दों पर विस्तार से चर्चा कर चुके हैं। प्रजनन का परिणाम होता है, अगली पीढ़ी का जन्म लेना। एक बार जब बच्चे की पैदाइश हो जाती है तब नर-मादा बच्चों की परवरिश करते हैं। नर-मादा सदैव मिलकर परवरिश करेंगे, ऐसा बिलकुल ज़रूरी नहीं है। हमारे आसपास ऐसे कई जीव दिखाई दे जाएँगे जिनमें परवरिश की ज़िम्मेदारी मादा पर होती है।

इसी तरह, कुछ पक्षियों में बच्चों की परवरिश की ज़िम्मेदारी अन्य पक्षियों पर डाल दी जाती है और वास्तविक माता-पिता अपना पल्ला झाड़ लेते हैं। कोयल द्वारा कौए के घोंसले में अण्डे रख देने की बात तो हम सभी ने सुन रखी है। लेकिन कोयल के अलावा कुछ और जीव भी ऐसा व्यवहार करते दिखते हैं। चलिए, इस बार 'पल्ला झाड़ने वाले' व्यवहार के जैव-विकास के बारे में विस्तार से जानते हैं।

प्रजनन के बाद अगली पीढ़ी को जन्म देना एक प्रमुख कदम है। कई जीव निषेचित अण्डों को सुरक्षित जगह रखकर अपने रास्ते चल देते हैं। वहीं कुछ जीव बच्चों की पैदाइश के बाद उनकी देखभाल करते हैं। बच्चों की परवरिश करना एक श्रमसाध्य कार्य है, इसलिए वयस्क जीव कम बच्चों को ही पाल सकते हैं। वहीं कुछ जीवों की रणनीति होती है कि अपने अण्डों को दूसरे के घोंसले में रख दिया जाए ताकि बच्चों की सुरक्षित पैदाइश और परवरिश की मेहनत से बच सकें। ऐसे व्यवहार को 'ब्रूड पैरासिटिज़्म' (घोंसला परजीविता) कहा जाता है। इस रणनीति को अपनाने वाले जीवों को 'ब्रूड पैरासाइट्स' कहते हैं।

ब्रूड पैरासिटिज़्म

यह एक अजीब खयाल लग सकता है कि अपने बच्चों की परवरिश को दूसरों के भरोसे छोड़ दिया जाए। परन्तु जीव-जगत में यह

कोई अनोखी बात नहीं है। कई पक्षी अपने अण्डे दूसरे पक्षियों के घोंसलों में देते हैं और दूसरी प्रजाति के वो पक्षी इन बच्चों को पालने का कार्य करते हैं। सरसरीतौर पर आप इस व्यवहार को देखकर कुछ पक्षियों को अकलमन्द और कुछ को बेवकूफ ठहरा सकते हैं। लेकिन सवाल यह उठता है कि कोई पक्षी क्यों दूसरे को बेवकूफ बना रहा है और दूसरा पक्षी क्यों बेवकूफ बन रहा है?

किसी पंछी के लिए इससे अधिक प्रसन्नता की बात और क्या हो सकती है कि कोई दूसरा पक्षी उसके बच्चों की परवरिश करे और अण्डे देने के बाद अण्डों को सेने से लेकर चूज़ों को पालने-पोसने तक की उसकी सारी ज़िम्मेदारी समाप्त! चूज़ों की परवरिश में लगने वाला समय और लागत को देखते हुए 'ब्रूड पैरासिटिज़्म' कमाल की युक्ति लगती है। भूखे बच्चे लगातार भोजन की माँग करते रहते हैं। चूज़ों को लगातार भोजन उपलब्ध करवाना बेहद थकाऊ काम है। इसे तो तब समझा जा सकता है जब आप दूरबीन की मदद से बच्चों की परवरिश करते हुए पक्षी को सुबह से ही भोजन की तलाश में लगातार आते-जाते देखते हैं। अध्ययन के दौरान हमें यह समझ में आता है कि ब्रूड पैरासाइट्स को कितना अधिक फायदा होता है और पालक (या होस्ट) को कितनी मेहनत करनी पड़ रही है। इस फायदे-नुकसान के दरमियान यह जानना रोचक रहेगा कि परजीवी और होस्ट के बीच सह-अस्तित्व किस तरह विकसित हुआ होगा। होस्ट हमेशा परजीवियों से बचने के तरीके निकालेगा और परजीवी उन तरीकों को खोजेगा जिससे होस्ट उसकी सन्तति का पालन-पोषण करता रहे।

कौआ और कोयल तो हमारे आसपास का केवल एक उदाहरण हैं। पक्षियों में अनेक प्रजातियाँ ब्रूड पैरासाइट होती हैं तथा उनके एक-दूसरे को छलने के बहुत-से तरीके भी हैं। एक ओर हमें कुक्कू *(कुकुलस कैनोरस)* जैसे सामान्य परजीवी दिखते हैं जो सौ से भी ज़्यादा प्रकार की पोषक (होस्ट) प्रजातियों के घोंसलों में अण्डे दे सकते हैं तो दूसरी ओर अफ्रीका में पाई जाने वाली इंडिगो है जो एक ही पोषक प्रजाति के घोंसले में अण्डे देने में विशेषज्ञ हो चुकी है। इंडिगो के चूज़े

चित्र-1: *अफ्रीका में पाया जाने वाला इंडिगो पक्षी*

तो दिखने में एवं आवाज़ निकालने की नकल करने में भी कोई गलती नहीं करते। पोषक या होस्ट पर निर्भरता की पराकाष्ठा के अलावा, परजीवी ने प्रत्येक पोषक के घोंसले में कितने अण्डे रखे और अण्डे से निकलने के बाद परजीवी चूज़े की रणनीति क्या रही जैसे अनेक पहलू वैज्ञानिकों को शोध के लिए आकर्षित करते हैं।

परजीवी चूज़ों की प्रतिस्पर्धा

हम अक्सर वयस्क पक्षियों की रणनीति या व्यवहार की चर्चा करते हैं लेकिन परजीवी पक्षी के चूज़े भी घोंसलों में पलते हुए अधिकतम खाद्य पाने की कोशिश में लग जाते हैं। परजीवी पक्षी के चूज़े प्रतिस्पर्धा में होस्ट के चूज़ों के साथ तब ठहर पाएँगे जब वे या तो पोषक के अण्डों को घोंसले से बाहर गिरा दें या फिर पोषक के चूज़ों को घोंसलों से बेदखल कर दें।

यहाँ हम परजीवी चूज़ों को दो श्रेणियों में बाँटते हैं - बेदखल करने वाले और बेदखल न करने वाले। बेदखली के लिए बाह्य परजीवी चूज़े पोषक के सभी चूज़ों को मारकर होस्ट की प्रजनन सफलता को शून्य कर देते हैं। दूसरी ओर, अधिकांश ब्रूड परजीवी ऐसा न करके, पोषक के चूज़ों को मारने या बेदखल करने की बजाय भोजन के लिए प्रतिस्पर्धा करके तथा परजीवी चूज़ों के बड़े होने पर उनको डरा-धमकाकर अपनी श्रेष्ठता साबित करते हैं।

कुलमिलाकर, परजीवी चूज़े बेदखल करने वाले हों या न करने वाले, दोनों ही हालात में पोषक पक्षी को भारी नुकसान सहना पड़ता है। परजीवी पक्षी पोषक के घोंसलों में पहुँचें, उसके पहले या बाद की परिस्थितियों में भी अनेक पोषक पक्षियों ने परजीवी को पहचानकर, छुटकारा पाने के तरीके निकाल लिए हैं।

अब हम कुछ उदाहरणों के ज़रिए यह समझने की कोशिश करेंगे कि परजीवी किस तरह जुगत लगाकर पोषक तक पहुँच पाते हैं।

मॉकिंगबर्ड और काउबर्ड

इसे हम एक बढ़िया उदाहरण से समझते हैं। पोषक (होस्ट) पक्षी है चॉक-ब्रोएड मॉकिंगबर्ड (*मिमस सैटरनिनस*) और ब्रूड परजीवी शाइनी काउबर्ड (*मोलोथ्रस बोनारिएन्सिस*) है। मॉकिंगबर्ड ब्राज़ील के अधिकांश हिस्सों में पाया जाने वाला एक पक्षी है। इन्हीं इलाकों में पाई जाने वाली एक और चिड़िया शाइनी काउबर्ड है जो गीत गाने वाला एक मध्यम आकार का पंछी है।

शाइनी काउबर्ड नियमित रूप से मॉकिंगबर्ड के घोंसलों के आसपास मुआयना करती रहती है और घोंसलों में अण्डा दिखते ही, अण्डों को चोंच मारकर तबाह कर देती है। मॉकिंगबर्ड

चित्र-2: *मादा मॉकिंगवर्ड*

क्षतिग्रस्त अण्डों को घोंसले से हटा देती है। कई बार काउबर्ड मॉकिंगबर्ड के घोंसलों में अण्डे भी दे देती है, जिससे पोषक अपने चूज़ों को पालने के साथ-साथ परजीवी के चूज़ों का भी पालन-पोषण करें। काउबर्ड के ब्रूड परजीवी प्रयासों से बचने के लिए मॉकिंगबर्ड कोलाहल मचाकर काउबर्ड को रोकने का प्रयास करती हैं। कई बार मॉकिंगबर्ड परजीवी अण्डे को पहचानने के बावजूद अक्सर उसे स्वीकार कर लेती हैं। शाइनी काउबर्ड को रोकने के तरीकों में झपट्टा मारना, घोंसलों में बैठे-बैठे काउबर्ड पर आक्रमण करना, पीछा करना, चोंच मारना आदि शामिल हैं। कई बार तो अनेक मॉकिंगबर्ड समूह बनाकर काउबर्ड को रोकने और खदेड़ने का प्रयास भी करती हैं। परन्तु ये सारे प्रयास भी अक्सर काउबर्ड को मॉकिंगबर्ड के घोंसलों में अण्डा देने से नहीं रोक पाते।

शाइनी काउबर्ड एक कुशल परजीवी है। वह चपल उड़ाका भी है। वह उचित समय का इन्तज़ार करती रहती है। जब मॉकिंगबर्ड का जोड़ा घोंसले से दूर हो या अन्य काउबर्ड को खदेड़ने में मशगूल हो, तब वह जल्दी से घोंसले के पास पहुँच जाती है। कई बार दो काउबर्ड घोंसले के पास जाती हैं। पहली, मॉकिंगबर्ड का ध्यान खींचकर, उसे पीछा करने को उकसाती है और इसी बीच दूसरी काउबर्ड केवल कुछ-ही पल में घोंसले में अण्डा देकर भाग जाती है। कई पक्षी-प्रजातियों में जहाँ मादा को अण्डे देने में लगभग 20 मिनिट का समय लगता है, वहीं मादा काउबर्ड इस कार्य को औसतन सात सेकण्ड में पूरा कर लेती है! जब काउबर्ड को

चित्र-3: *मादा शाइनी काउबर्ड*

पोषक पक्षी के घोंसले में थोड़ा ज़्यादा समय मिल जाता है तो वो चोंच से पोषक पक्षी के अण्डों को फोड़ देती है और फिर स्वयं वहाँ अण्डे दे देती है। जब मॉकिंगबर्ड अपने घोंसलों के आसपास सचेत रहती है तो उनके अण्डे फूटने की सम्भावना भी कम हो जाती है। ऐसी परिस्थिति में पोषक पक्षी एवं परजीवी पक्षी, दोनों के अण्डों के जीवित बचे रहने के अवसर बराबर होते हैं।

अण्डों की नकल, समय मिलाना

कुछ अन्य काउबर्ड प्रजातियों ने अण्डों की नकल करने की कारगर युक्ति निकाल ली है। मादा कुक्कू *(कुकुलस कैनोरस)* घोंसला चुनने में बेहद समझ-बूझ दिखाती है और आसपास के घोंसलों में रखे अण्डों के रंग को परखकर, उन घोंसलों में ही अण्डे देती है जिनका रंग खुद के अण्डे जैसा हो। अण्डों का रंग परजीवी के लिए बेहद अहम मुद्दा होता है क्योंकि पोषक परिवार अक्सर रंग के आधार पर परजीवी के अण्डे को अपना लेता है। अगर परजीवी के अण्डों का रंग पोषक के अण्डों से भिन्न होता है तो वे अण्डों को सेना छोड़ देते हैं। इसलिए अण्डों का रंग परजीवी द्वारा पोषक के अण्डों के समान उद्विकास में चयनित हो गया है। पोषक ने भी परजीवी के अण्डों को देखकर और गिनकर पहचानना सीख लिया है। अक्सर देखा गया है कि जब परजीवी के एक से अधिक अण्डे पोषक के घोंसले में पाए जाते हैं तो पोषक उस घोंसले को ही त्याग देती है और दूसरी जगह घोंसला बनाने और प्रजनन में लग जाती है।

पोषक-परजीवी के बीच में अपने-अपने अस्तित्व को बचाए रखने के लिए लगातार क्षमता-विकास होता रहता है। चूज़ों द्वारा भोजन माँगने की आवाज़ भी एक महत्वपूर्ण मुद्दा है। पालक पक्षी अक्सर सबसे ज़्यादा चिल्लाने वाले चूज़ों को भोजन देने में प्राथमिकता दिखाते हैं। शाइनी काउबर्ड के चूज़ों की आवाज़ बार-बार दोहराई जाने वाली होती है जबकि पोषक फेयरी रेन के चूज़ों की आवाज़ एक बार ही उत्पन्न होती है। जब भी माता-पिता भोजन लेकर घोंसले की ओर लौटते हैं तो स्वयं के चूज़ों से अलग दिखने के बावजूद

चित्र-4: फेयरी रेन

चित्र-5: *मादा कैरीयन क्रो*

परजीवी बच्चों की लगातार आवाज़ के कारण, वे पहले उनको भोजन दे देते हैं।

शिकारियों से बचाव

अभी तक के विवरण से आपने मन-ही-मन यह धारणा बना ली होगी कि परजीवी-पोषक के इस संघर्ष में हमेशा पोषक की हार एवं परजीवी की जीत होती है। परन्तु कई बार परजीवी की उपस्थिति पोषक के लिए फायदे का सौदा भी होती है। पोषक कैरीयन क्रो *(कोरवस कोरोने)* भारतीय कौओं से बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं, परन्तु ये पश्चिमी यूरोप में पाए जाते हैं। वहीं पर पाई जाने वाली ग्रेट स्पॉटेड कुक्कू *(क्लेमेटर ग्लैंडेरियस)* एक परजीवी है। परन्तु इस रिश्ते में कैरीयन क्रो को परजीवी से फायदा भी होता है।

चित्र-6: *मादा ग्रेट स्पॉटेड कुक्कू*

ग्रेट स्पॉटेड कुक्कू स्वभाव से चूज़ों को बेदखल नहीं करने वाली परजीवी हैं। जब पोषक क्रो के चूज़े सफलतापूर्वक अण्डों से निकल आते हैं तो वे कुक्कू के बच्चों से कठिन स्पर्धा करके बड़े होते हैं। जब शिकारियों के हमले का डर बना होता है तब परजीवियों के साथ रहने वाले क्रो के बच्चे, बगैर परजीवियों के साथ वाले बच्चों की तुलना में ज़्यादा सफलतापूर्वक बढ़ते हैं। ऐसा शायद इसलिए होता है क्योंकि जब शिकारी (बिल्ली, शिकारी पक्षी आदि) कुक्कू के चूज़ों को पकड़ते हैं तो वे अपने बचाव में बड़ी मात्रा में बदबूदार और हानिकारक द्रव उत्पन्न करते हैं। इस द्रव में मुख्य रूप से एसिड, फिनोल्स एवं सल्फर पाया जाता है जो क्लोएका (मल-मूत्र विसर्जन मार्ग) से निकलता है। इस बदबूदार द्रव के उत्पन्न होने के कारण अक्सर क्रो के चूज़े भी हमले

से बच जाते हैं। हालाँकि, एक-दूसरे को फायदा पहुँचाने वाला यह रिश्ता वहीं मज़बूत रहता है जहाँ शिकारी के हमले की आशंका अधिक हो।

साझा घोंसला

ब्रूड पैरासिटिज़्म की दुनिया में एक और प्रकार का पैरासिटिज़्म होता है जिसे सजातीय ब्रूड पैरासिटिज़्म कहते हैं। जैसा नाम से स्पष्ट है, यह एक ही प्रजाति के सदस्यों के बीच घटित होता है। उदाहरण के लिए, गोल्डन-आई डक *(ब्यूसिफेला क्लेंगुला)* को लेते हैं। ब्यूसिफेला उत्तरी गोलार्ध में पाई जाने वाली गोताखोर बत्तख का एक वंश है। ब्रूड पैरासिटिज़्म के इस प्रकार में एक ही प्रजाति की सभी मादाएँ केवल एक ही घोंसले में अण्डे देती हैं। पोषक मादा अनेक मादाओं से प्राप्त अण्डों की देखरेख और चूज़ों का लालन-पालन करती है। एक ही इलाके में रहने वाली मादा बत्तखों के बीच काफी घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। साथ ही, अक्सर ये घोंसले शिकारियों की अनुपस्थिति वाले स्थानों पर बनाए जाते हैं। यहाँ सोच थोड़ी फर्क होती है - भिन्न प्रजाति के घोंसलों में अण्डे देने से ज़्यादा अच्छा है कि सजातीय के घोंसलों में अण्डे दिए जाएँ जहाँ उनकी एकसाथ देखरेख हो।

चित्र-7: *गोल्डन-आई डक*

मछलियों में ब्रूड पैरासिटिज़्म

बच्चों की परवरिश का झमेला न सम्भालने की फितरत सिर्फ कोयल की हो, ऐसा नहीं है। कुछ मछलियाँ भी ऐसी फितरत वाली होती हैं। इसका एक उदाहरण है, कैटफिश। यह कोयल जैसी फितरत के कारण कुक्कू कैटफिश *(साइनोडोंटिस मल्टिपंकटेटस)* कहलाती है।

कुक्कू कैटफिश पक्षियों के अलावा ऐसी अकेली कशेरुकी जीव है जो इस प्रकार की रणनीति अपनाती है। ये मछलियाँ पूर्वी मध्य अफ्रीका की तांगान्यीका झील में पाई जाती हैं। झील में इनके साथ पड़ोसी बनकर रहने वाली एक और मछली है - सिचलिड (किचलिड भी कहा जाता है)। सिचलिड अपने निषेचित अण्डों को अपने मुँह में रखती है। कुछ समय बाद मुँह के भीतर ही अण्डों में से बच्चे निकलते हैं जिन्हें बाद में सिचलिड मुँह खोलकर बाहर छोड़ देती है।

चित्र-8: *कुक्कू कैटफिश*

चित्र-9: *सिचलिड*

कुक्कू कैटफिश प्रजनन काल के दौरान सिचलिड के आसपास मण्डराने लगती हैं। सामान्यतः मादा सिचलिड प्रजननकाल में एक या दो बार पानी में अण्डे देती हैं और उन्हें शत्रुओं से बचाने के लिए तुरन्त ही मुँह में रख लेती हैं। कुछ प्रजातियों में सिचलिड नर अपनी पूँछ को मादा के पास ले जाते हैं और अपने शुक्राणुओं को तुरन्त ही मादा के मुँह में डालकर अण्डों को निषेचित कर देते हैं। इसे माउथ ब्रूडिंग या ओरल इनक्युबेशन कहते हैं। जब सिचलिड अण्डे देती है तो मादा कुक्कू कैटफिश तुरन्त उसके अधिकांश अण्डों को खा जाती है और वहाँ अपने अण्डे दे देती है। हड़बड़ी के इन पलों में घबराई हुई सिचलिड अपने बचे हुए अण्डों को और कुक्कू कैटफिश के अण्डों को अपना समझकर, सुरक्षा के भाव से अपने मुँह में बन्द कर लेती है।

जहाँ सिचलिड के बच्चों को अण्डों में से बाहर निकलने में एक सप्ताह का समय लगता है, वहीं कुक्कू कैटफिश के बच्चे चार दिनों में ही अण्डों से बाहर आ जाते हैं। जन्म के तुरन्त बाद कैटफिश के बच्चे चुन-चुनकर सिचलिड के अण्डों को खाना शुरू कर देते हैं। कैटफिश के बच्चे तेज़ी-से वृद्धि करके एक इंच तक बड़े हो जाते हैं। सिचलिड के अण्डों की अनुपस्थिति में वे अपने सहोदरों को भी खाने से नहीं कतराते।

वैज्ञानिकों ने शोध द्वारा सिद्ध किया है कि अफ्रीका की उन झीलों में, जहाँ सिचलिड और कुक्कू कैटफिश, दोनों पाई जाती हैं, वहाँ कैटफिश की ब्रूड पैरासिटिज़्म की सफलता केवल 17 प्रतिशत देखी गई। जबकि सिचलिड की उन प्रजातियों में जहाँ कुक्कू कैटफिश से उनका सामना नहीं होता, वहाँ उन्हें

प्रयोग के तौर पर कुक्कू कैटफिश के साथ रखने पर ब्रूड पैरासिटिज़्म में दुगनी वृद्धि देखी गई।

कुक्कू-वास्प ब्रूड पैरासिटिज़्म

एक जीव वैज्ञानिक होने के कारण अक्सर लोग मेरे पास विविध जीवों के फोटोग्राफ लेकर आते हैं और उस जीव की पहचान तथा कुछ और जानकारियाँ हासिल करना चाहते हैं। एक बार मेरे एक विद्यार्थी ने 'फैन-थ्रोटेड लिज़र्ड' का फोटोग्राफ पहचानने के लिए भेजा था जो उसने कुर्बान घाटी (इन्दौर के पास) पर लिया था। लिज़र्ड के इस समूह में नर गर्दन से लटकी त्वचा को पंखे जैसा हिलाकर, मादा को आकर्षित करते हैं। पंखे के सुन्दर चटकीले रंग देखकर मैं अचम्भित था। मैं प्रकृति-दर्शन का ऐसा कोई अवसर खोना नहीं चाहता था जहाँ फैन-थ्रोटेड लिज़र्ड के प्रेमालाप को देखने का दुर्लभ अवसर मिलने वाला हो। इसलिए मैं तुरन्त उस जगह के लिए चल निकला।

चित्र-10: *पॉटर-वास्प*

चित्र-11: *कुक्कू-वास्प*

पहाड़ी पर आधा घण्टा खाक छानने के बाद तेज़ धूप ने हालत पतली कर दी थी, इसलिए हमने पास के एक मन्दिर की छाँव में शरण ली।

सामने की दीवार पर पॉटर-वास्प गीली मिट्टी के लोंदों से घोंसला बना रही थी। मैंने तुरन्त अपना कैमरा निकाला और शूटिंग प्रारम्भ कर दी। जब मैं पॉटर-वास्प के घोंसले का वीडियो बना रहा था तब मैंने देखा कि जैसे ही पॉटर-वास्प मिट्टी लेने के लिए घोंसले से दूर गई, उसकी अनुपस्थिति का फायदा उठाते हुए एक हरे-नीले रंग की बेहद सुन्दर और चुस्त कुक्कू-वास्प ने घोंसले के खुले सेल (कक्ष) में झाँककर देखा और तुरन्त उसमें एक अण्डा देकर भाग निकली। इस पूरी प्रक्रिया में 10 सेकण्ड से भी कम समय लगा होगा। कुक्कू-वास्प की इस कारगुज़ारी से अनजान पॉटर-वास्प गीली मिट्टी का एक लड्डू लाकर

उस सेल को बन्द कर देती है। उस घोंसले में उसने पहले से ही दो कैटरपिलर को डंक मारकर बेहोशी की अवस्था में बन्द कर रखा था और कक्ष की छत से स्वयं का एक अण्डा चिपका दिया था। सब कुछ वैसा ही हुआ जैसा कुक्कू-वास्प चाहती थी। 48 घण्टों में कुक्कू-वास्प के अण्डे से लार्वा निकलकर या तो पॉटर-वास्प के लार्वा को मारकर अपना भोजन बनाएगा या फिर दोनों के लार्वा घोंसले में मौजूद भोजन (कैटरपिलर) को खाकर वृद्धि करेंगे। और जब पॉटर-वास्प का लार्वा प्यूपा बनेगा तब कुक्कू-वास्प का लार्वा उसका शिकार करेगा।

कुक्कू-वास्प वाले उदाहरण में आपने देखा कि यहाँ पोषक (होस्ट) द्वारा भोजन की जो व्यवस्था की गई थी, उसे तो परजीवी का लार्वा खाएगा ही, साथ ही पोषक के लार्वा को भी चट कर लेगा। सही मायनों में पैरासाइट वे जन्तु होते हैं जो पोषक से भोजन तो प्राप्त करते हैं परन्तु उस हद तक नहीं कि पोषक ही भूखा मर जाए क्योंकि पोषक के मरते ही उन पर निर्भर पैरासाइट भी मर सकते हैं।

कुक्कू-वास्प तो दरअसल पैरासिटोइड्स हैं। पैरासिटोइड्स मतलब वे जन्तु जो पोषक को भी मारकर अपने भोजन का प्रबन्ध करता हो। कुक्कू-वास्प न केवल पोषक को खा जाती है बल्कि उनके लार्वा की वृद्धि के लिए रखे गए आहार को भी सफाचट कर देती है। जो जन्तु दूसरों का भोजन चुराकर अपना आहार बना लेते हैं, उन्हें 'क्लेप्टोपैरासाइट' कहते हैं।

क्लेप्टोपैरासाइट की दुनिया भी अनोखी है लेकिन उनकी चर्चा फिर कभी करेंगे।

विपुल कीर्ति शर्मा: शासकीय होल्कर विज्ञान महाविद्यालय, इन्दौर में प्राणिशास्त्र के वरिष्ठ प्रोफेसर हैं। इन्होंने 'बाघ बेड्स' के जीवाश्मों का गहन अध्ययन किया है तथा जीवाश्मित सीअर्चिन की एक नई प्रजाति की खोज की है। नेचुरल म्यूज़ियम, लंदन ने सम्मान में इस प्रजाति का नाम उनके नाम पर *स्टीरियोसिडेरिस कीर्ति* रखा है। वर्तमान में, वे अपने विद्यार्थियों के साथ मकड़ियों पर शोध कार्य कर रहे हैं।

विश्व विजेता दस

आमोद कारखानीस

प्राचीन इजिप्ट (मिस्र) के सम्राट फैरो का साम्राज्य काफी विशाल था, लगभग पूरी नील नदी घाटी में फैला हुआ। फैरो का राज्य अफ्रीका के घने जंगल वाले इलाके से भूमध्य सागर के उपजाऊ तटीय इलाके तक के विशाल भू-भाग में फैला हुआ था। ऐसा कहा जाता है कि कितना लगान जमा हुआ, इसका हिसाब मिस्र के राजा हर साल माँगते थे। यह हिसाब अच्छा-खासा लम्बा-चौड़ा होता था। वास्तव में देखा जाए तो हिसाब इतना जटिल नहीं था लेकिन हिसाब के अंक लिखना ज़रूर लम्बा-चौड़ा काम था। उन दिनों मिस्र में संख्याओं को लिखने का तरीका ही ऐसा था कि बड़ी संख्याओं को लिखना खासा मशक्कत भरा होता था।

एक इलाके में इकट्ठा हुआ लगान यह है (चित्र-1) -

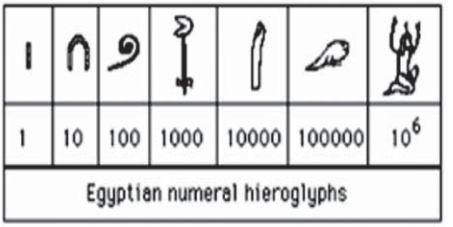

चित्र-2: *मिस्र में उपयोग होने वाले विविध अंकों के लिए चिन्ह।*

चित्र-3: *मिस्र के तरीके में 528.*

चित्र-1

अंकों को लिखने का उनका तरीका वैसे तो आसान था। 1, 10, 100, 1000 के लिए अलग-अलग चिन्ह होते थे। 528 लिखना हो तो 100 का चिन्ह 5 बार, 10 का चिन्ह 2 बार और 1 का चिन्ह 8 बार लिखना होता था। यह तो बड़ा लम्बा-चौड़ा हो गया!

इस तरीके में कोई भी चिन्ह किसी भी क्रम में लिखा जा सकता था क्योंकि हरेक चिन्ह फर्क होता था। उस समय मिस्र में 10 लाख सबसे बड़ा अंक होता था। इसके लिए देवता का चिन्ह इस्तेमाल किया जाता था। इससे बड़े अंक वे लिखते ही नहीं थे, पता नहीं, सोचते थे कि नहीं। अंकों को लिखने का यह तरीका आसान तो था लेकिन सुविधाजनक नहीं था। इसलिए समय गुज़रते वहाँ गणित की तरक्की में सीमाएँ आने लगी थीं।

भारत में गणना का नया तरीका

मिस्र में गणित की तरक्की एक खास पड़ाव पर आकर रुक-सी गई थी। लेकिन इसी समय दुनिया के अन्य इलाकों में गणित में काफी तरक्की हो रही थी। यह दूसरा इलाका यानी भारत। चलिए, देखते हैं कि भारत में क्या चल रहा था।

मिस्र की तरह भारत में भी दस आधारित गणना की जा रही थी। यहाँ भी दस की घात वाली संख्या के लिए एक अलग नाम या शब्द इस्तेमाल होता था। जैसे दस, सौ, हज़ार, लाख, करोड़ वगैरह। इसका सबसे पुराना सबूत वेदों में है। शुक्लवेद संहिता में दस, सौ, हज़ार से लेकर दस की घात बारह (10^{12}) तक की संख्या के लिए नाम या शब्द उल्लेखित हैं। लेकिन उस समय वेद की मौखिक परम्परा थी यानी वेदों को कण्ठस्थ करके, एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचाया जाता था। इसलिए अंकों को लिखा कैसे जाता था, इसके बारे में पक्के तौर पर कुछ बताया नहीं जा सकता। कुछ ग्रन्थों में 1 से 9 तक के अंकों को दर्शाने के लिए कुछ अक्षरों का इस्तेमाल किया जाता था। जैसे, 4 के लिए 'क' या 'प्क', 5 के लिए 'नृ', 6 के लिए 'ज', 'स', 'फ', 'इ' आदि।

फिलहाल हम संख्याओं के जिन चिन्हों का उपयोग कर रहे हैं, उन चिन्हों का उद्गम सम्भवतः सिन्धु घाटी सभ्यता में हुआ होगा। इसके बाद के समय में ब्राह्मी लिपि में हमें इन चिन्हों का इस्तेमाल दिखाई देता है।

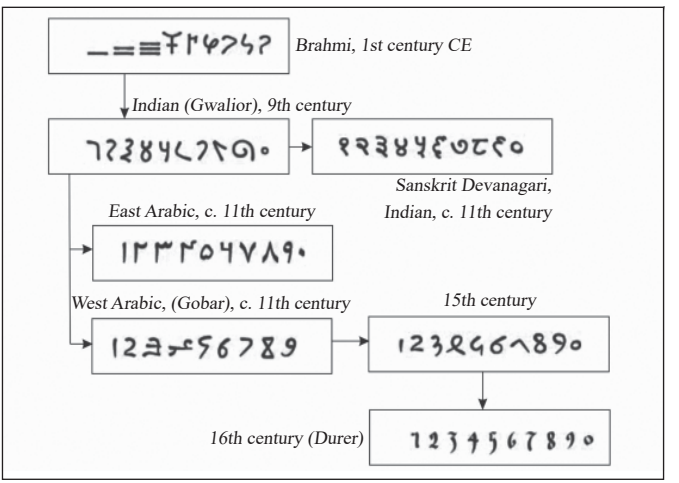

चित्र-4: *हिन्दू-अरब अंकों का विकास।*

उस समय 1 से 9 तक के अंकों के लिए फर्क चिन्हों का इस्तेमाल करना भारत की एक उल्लेखनीय पहल थी। मिस्र में इस्तेमाल होने वाले चिन्हों की तरह, हर अंक के लिए फर्क चिन्ह का भारतीय तरीका भी एक किस्म से क्रान्ति से कम नहीं था। सिर्फ मिस्र ही क्यों, दुनिया में अलग-अलग इलाकों में 5 या 8 चिन्हों वाले समूह के मुकाबले 1 से 9 के लिए विविध चिन्हों के इस्तेमाल का यह तरीका सुविधाजनक था। अब सवाल यह था कि इन 9 चिन्हों के इस्तेमाल के बाद संख्याओं को कैसे लिखा जाए?

स्थानीय मान की खोज

तो, दस लिखने के लिए हमारे पास शब्द था – दशक। लेकिन इसे अंकों में कैसे दिखाया जाए? शुरू में इसके लिए शब्दों का ही इस्तेमाल होता रहा। जैसे 235 के लिए 2 शतक, 3 दशक और 5 लिखा जाता था। इस तरीके में से ही एक नई पद्धति निर्मित हुई, वो थी - इकाई, दहाई, सैकड़ा, हज़ार वगैरह। हरेक के लिए फर्क स्थान देने की। इन जगहों को ही हम स्थानीय मान कहते हैं। इसमें अंकों को बाईं ओर से दाहिनी ओर एक-दूसरे से सटाकर लिखते जाना होता है। उदाहरण के लिए, किसी इन्सान को 'तीन हज़ार, पाँच सौ और एक' लिखना हो तो उसे तीन हज़ार लिखने की ज़रूरत

चित्र-5

नहीं है। एकदम सरल तरीके से लिखने का तरीका चित्र-5 में दिखाया गया है।

यहाँ 3 का चिन्ह हज़ार के स्थान पर, 5 का चिन्ह सौ के स्थान पर और 1 को इकाई के स्थान पर लिखने से संख्या बन जाती है। इसे 'अंकानां वामनो गति' कहा जाता था। यानी अंकों को बाईं ओर से लिखते जाना। अंकों को लिखने के इस तरीके को फिलहाल हम स्थानीय मान (प्लेस वैल्यू) के नाम से जानते हैं।

इसकी वजह से सारे कामकाज सरलता से होने लगे। सौ, हज़ार, लाख आदि शब्द तो फर्क हैं लेकिन इनके लिए नए चिन्हों की ज़रूरत नहीं होती। किसी भी संख्या को 1 से 9 तक के चिन्हों से लिखा जा सकता है। इस तरीके से, इस लेख के पहले पेज पर उल्लेखित इजिप्ट के एक इलाके में इकट्ठा हुआ लगान - 622743 - इस तरह से लिखा जाएगा।

शून्य से पहले का दौर

इतनी देर से हम 1 से 9 तक के चिन्हों की बात कर रहे हैं तो आपको

ऐसा लग सकता है कि कहीं कुछ गलत तो नहीं कह रहे हैं, चिन्ह 9 ही क्यों?

वह इसलिए क्योंकि अभी तक शून्य की खोज हुई ही नहीं थी!

स्थानीय मान का उपयोग करते हुए संख्या लिखने के तरीके में एक और बदलाव आया जिसकी वजह से गणित की कई प्रक्रियाएँ जैसे जोड़, घटा, गुणा, भाग आदि भी काफी आसान हो गईं।

मान लो, हमें 29 + 1 की गणना करना है तो हमारे पास 9 इकाइयाँ हैं (चित्र-6)।

उसमें यदि एक इकाई और जुड़ जाए तो दस इकाइयाँ हो जाएँगी। यदि इन दस इकाइयों का एक बण्डल बनाया जाए तो एक दशक हो जाएगा। अब इसे बाईं ओर रखे दो बण्डल के साथ रख देते हैं। इसे ही हम 'हासिल आया' भी कहते हैं। इसकी वजह से जोड़ना बहुत आसान हो जाता है।

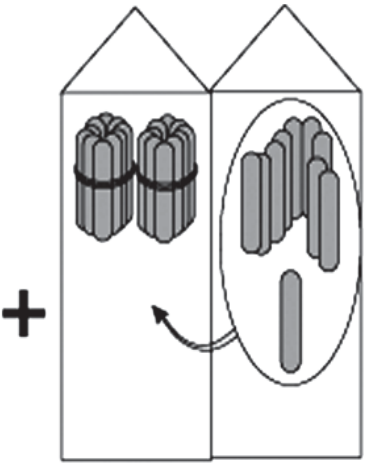

चित्र-6

स्थानीय मान की वजह से गुणा करना भी आसान हुआ। 10 से गुणा करना मतलब अंक को सिर्फ एक खण्ड बाईं ओर खिसकाना। यदि 20 से गुणा करना हो तो 2 का पहाड़ा मालूम होना ही पर्याप्त है। अंक को 2 से गुणा करना और जो अंक मिले, उसे एक खण्ड बाईं ओर खिसकाते जाना है। इसलिए 2 से 9 तक के पहाड़े से किसी भी दो अंकों की संख्या का गुणा सम्भव हुआ।

संख्याएँ लिखना और संख्याओं की परस्पर संक्रियाएँ आसान होने की वजह से गणित का इस्तेमाल व्यावहारिक जीवन में भी बढ़ने लगा। कर संग्रहण, नाप-तौल, व्यापार, खगोल विज्ञान – इन सभी की तरक्की का रास्ता खुलता चला गया और इस बौद्धिक तरक्की की बदौलत भारत एक नए युग की दहलीज़ तक पहुँच गया। शून्य की खोज और स्थानीय मान आधारित अंक व्यवस्था सचमुच में अत्यन्त क्रान्तिकारी परिवर्तन थे जिनपर आज की अंक पद्धति और गणितीय ढाँचा टिका हुआ है।

स्थानीय मान की वैश्विक झलक

स्थानीय मान का इस्तेमाल करते हुए संख्याओं को लिखने का तरीका सिर्फ भारत में ही विकसित हुआ था,

ऐसा बिलकुल नहीं है। दक्षिण अमरीका की माया सभ्यता में भी ऐसा ही कुछ तरीका था। वे लोग दहाई को बाईं ओर न सरकाते हुए, एक खण्ड ऊपर सरकाते थे।

वर्तमान समय के मैक्सिको, होंडूरास वगैरह में 5000 ईसा पूर्व में या इससे भी पहले उष्णकटिबन्धीय जंगलों और नदी-पहाड़ के बीचों-बीच भरी-पूरी समृद्ध सभ्यता विकसित हुई। पत्थर युगीन इन्सान अब खेती करना सीख गया था। फसलों के रूप में उगाया जाने वाला यहाँ का पहला अनाज था – मक्का। उस समय का मक्का आज की तरह नरम नहीं था। उस समय इन्सान ने मक्के को उबालकर नरम करना, मक्के का आटा बनाना और उससे रोटी जैसा कुछ खाद्य बनाने का तरीका सीखा। खेती की शुरुआत के साथ इन्सान की ज़िन्दगी में काफी सारी तब्दीलियाँ आईं और गाँव भी बसने लगे। इन बस्तियों में अब नाप-तौल की ज़रूरत महसूस होने लगी थी, उन्हें बड़े अंक लिखने की ज़रूरत भी महसूस हो रही थी। लेकिन इसमें अभी भी एक दिक्कत थी।

यहाँ 1 के लिए एक अंगुली को मोड़कर और एक बिन्दी लगाकर दर्शाएँगे। 2 के लिए दो अंगुली और दो बिन्दी। इसी तरह 3, 4 और 5. लेकिन जब एक हाथ की पाँचों अंगुलियाँ मोड़ दी गईं तब 5 के लिए बिन्दी लगाने की बजाय एक आड़ी लकीर खींचते हैं। ऐसे ही 6, 7, 8, 9 को दूसरे हाथ की अंगुलियों के साथ दोहराते हुए आड़ी लकीर के ऊपर क्रम से एक, दो, तीन, चार बिन्दी लगाते चलते हैं। 9 के बाद दो आड़ी लकीरें। यह दोहराव 19 तक चलता है लेकिन उसके बाद क्या...?

अंकों को लिखने का उनका तरीका इस प्रकार था -

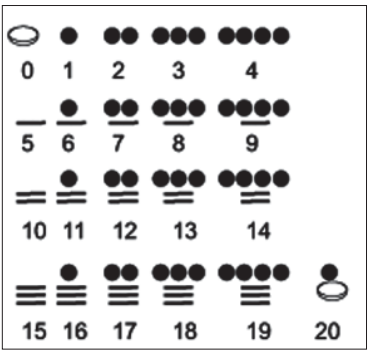

चित्र-7: *माया सभ्यता में संख्याएँ*

इसके बाद के अंकों के लिए, वास्तव में 20 के लिए एक नया चिन्ह होना चाहिए। भारत और माया, दोनों संस्कृतियों में इसके बाद नया चिन्ह न बनाते हुए, स्थानीय मान का उपयोग किया गया।

लेकिन माया सभ्यता शेष दुनिया से काफी दूर और अटलांटिक और प्रशान्त महासागर जैसे विशाल समुद्र की वजह से अलग-थलग थी। दूसरी बात, उनके पास इकाई अंकों के लिए अलग-अलग चिन्ह नहीं थे और यह एक 20 आधार वाली पद्धति थी। इस

पद्धति का 10 मतलब हमारे तरीके का 20 और उनका 20 मतलब हमारा 40 हुआ। 20 आधार वाली गणना के मुकाबले 10 आधार वाली गणना ज़्यादा आसान और सुगम थी।

इसी तरह अन्य सभ्यताओं में भी अलग-अलग आधार पर अंक पद्धतियाँ विकसित हुई थीं। जैसे माया सभ्यता में 20 पर आधारित पद्धति थी, वैसे ही सुमेरियन पद्धति में आधार 60 था, और मेसोपोटामिया में आधार 12 इस्तेमाल होता था।

विश्व विजेता दस

दुनिया में ऐसी कई तरह की पद्धतियाँ प्रचलन में होने की वजह से व्यापार में किस तरह की चुनौतियाँ पेश आती होंगी, इसकी आप सिर्फ कल्पना ही कर सकते हैं।

उदाहरण के लिए, मान लीजिए एक भारतीय मेसोपोटामिया के बाज़ार में घूम रहा है। मेसोपोटामिया में आधार 12 का इस्तेमाल होता है और हिन्दुस्तानी इन्सान को इसके बारे में मालूम नहीं है। उसकी निगाह एक खूबसूरत हार पर जाकर रुक जाती है, वह उसे खरीदना चाहता है।

वह दुकानदार से पूछता है, "इस हार का दाम क्या है?"

दुकानदार बताता है, "21 मुद्रा।"

हिन्दुस्तानी कहता है, कोई बात नहीं, सस्ता ही है और 10 आधार पद्धति के मुताबिक 21 मुद्राएँ दुकानदार को दे देता है।

मेसोपोटामिया का दुकानदार कहता है, "महाशय, मैंने आपको 21 मुद्रा बताया है। आपने मुझे 4 मुद्राएँ कम दी हैं।"

"नहीं तो, मैंने अच्छे से गिनकर इक्कीस मुद्राएँ दी हैं।"

"नहीं जी, देखिए, ये उन्नीस मुद्राएँ ही हैं।"

यह फर्क इसलिए आया क्योंकि 10 आधार पद्धति का 21 मतलब मेसोपोटामियाई 12 आधार पद्धति का 19 हुआ।

दुनियाभर में जिस तरह से व्यापार बढ़ रहा था, उसमें इस तरह की विसंगतियाँ या चुनौतियाँ भी बढ़ती जा रही थीं। इस तरह तो नहीं चल सकता था। व्यापार में जिस तरह सामग्रियों का आदान-प्रदान हो रहा था वैसे ही गणितीय संकल्पनाओं का लेन-देन भी बढ़ रहा था। इन सब के साथ-साथ धीरे-धीरे दस आधार वाली पद्धति दुनियाभर में मान्यता प्राप्त करती चली गई।

आमोद कारखानीस: पेशे से कम्प्यूटर इंजीनियर। लेखन एवं चित्रकारी का शौक। मुम्बई में रहते हैं।

मराठी से अनुवाद: माधव केलकर: *संदर्भ* पत्रिका से सम्बद्ध हैं।

साप्ताहिक बाज़ार: दुनियादारी का गणित

रचना, खेल और हिसाब-किताब का संगम

अनिल सिंह

बैंक अच्छा चल रहा था। बच्चों को अपने नोट गिनने, सम्भालकर रखने, जमा करने और बैंक से निकालने में बड़ा मज़ा आ रहा था। शुक्रवार के दिन दोपहर के खाने के बाद बैंक काउन्टर के सामने लगी लाइन देखकर हम सबको भी बड़ा मज़ा आता था। बच्चे अपनी पासबुक लिए, उसे उलटते-पुलटते अपनी बारी का इन्तज़ार कर रहे होते।

इसके बाद हुआ यह कि जिस तरह स्कूल उन्हें कागज़, पेंसिल और रबर बेच रहा था, वे भी कुछ बेचकर कमाई करना चाह रहे थे। इसकी शुरुआत हो चुकी थी। शताक्षी ने ज़्यादा कागज़ खरीद लिए थे लेकिन उसे उतनी ज़रूरत नहीं थी, तो उसने बचे हुए कागज़ जन्नत को बेच दिए।

बच्चों का रचनात्मक बज़ार

मासिक बैठक में यह प्रस्ताव रखा गया कि क्यों न हर शुक्रवार को दोपहर बाद एक बाज़ार लगाया

जाए। इसमें बच्चे कुछ सामान बनाकर बेच सकते हैं। ये दुकानें कैसी होंगी, इनमें क्या-क्या बेचा जा सकेगा, कौन बेच सकता है, इन सब सवालों पर बच्चों से सुझाव माँगे गए। मुख्य हॉल में बाज़ार लगाना तय हुआ। अंकिता और रोशनी ने कहा कि पेपर क्राफ्ट वाली क्लास में उन्होंने कई चीज़ें बनाना सीखी हैं। उन्हें कागज़ के झूमर बनाने आते हैं। वे झूमर की दुकान लगाएँगी। आर्ट एण्ड क्राफ्ट की क्लास में छोटे बच्चों ने आइसक्रीम स्टिक की सीटी, और फिरकी बनाना सीखी थी। उन्होंने कहा कि वे यही बेचेंगे। शुचिता को ऊन की गुड़िया बनानी आती है, वो गुड़िया बेचेगी। गोपाल और देवेन्द्र ने कहा कि वे मिट्टी के खिलौनों की दुकान लगाएँगे। अर्णव और अबीर ने ऑरिगेमी में ट्यूलिप के फूल और चिड़िया बनानी सीखी थी। उन्हें लगा कि वे यही बनाकर बेच सकते हैं।

बच्चों के बीच अब यह चर्चा थी कि वे ऐसा क्या बनाएँ और बेचें जिससे उनकी कमाई हो सके और उनके रुपए बढ़ सकें। सब अपनी-अपनी जुगत और प्लानिंग में लग गए। अगले शुक्रवार से साप्ताहिक बाज़ार लगाना तय हुआ। उन्हें यह भी बताया गया कि बेचने वाले आइटम बनाने के लिए जो भी सामान स्कूल से लिया जाएगा, उसके पैसे देने होंगे। आइसक्रीम स्टिक, गोंद, गुब्बारे, स्ट्रॉ, ऑरिगेमी पेपर, कलर ब्रश, मिट्टी, काइट पेपर, कैंची, धागा, टेबल-कुर्सी - जो भी दुकान लगाने के लिए चाहिए, वह स्कूल से खरीदा जा सकता था।

दोपहर बाद बैंक लगा, लोगों ने लेन-देन किया। जो दुकान लगाना

चाहते थे, उन्होंने दुकान की तैयारी के लिए और जो सिर्फ बाज़ार का मज़ा लेना चाहते थे, उन्होंने चीज़ें खरीदने के लिए पैसे निकाले।

पहले शुक्रवार को सिर्फ पाँच दुकानें लगीं। अंकिता और रोशनी ने रंगीन कागज़ को काटकर झूमर बनाए थे। उन्होंने एक टेबल लगाकर, उसपर धागों की मदद से झूमर लटकाकर बेचने के लिए प्रदर्शित किए थे। शुचिता ने ऊन की चार गुड़िया बनाईं थीं। उसने एक पेपर बिछाकर, उसपर गुड़िया रखकर अपनी दुकान लगाई थी। अर्णव और अबीर ने मिलकर ऑरिगेमी आइटम की दुकान लगाई। उनकी दुकान में उछलने वाले मेंढक, ट्यूलिप के रंग-बिरंगे फूल, और पंख पसारे हुए छोटी-छोटी चिड़िया थीं। माही की अलमारी में पहले की बनी हुई आइसक्रीम स्टिक वाली कुछ सीटियाँ पड़ी थीं, उसने उन्हें ही बेचने के लिए निकाल लिया था। देवेन्द्र और गोपाल एक पन्नी पर मिट्टी के छोटे-छोटे खिलौने बनाकर रख रहे थे। इनमें हाथी, चिड़िया, साँप, चूल्हा, कटोरियाँ, कड़ाही और चकला-बेलन थे। लेकिन वे सब अभी गीले थे, इसलिए बच्चे उन्हें खरीद नहीं रहे थे। गोपाल और देवेन्द्र को समझ में आया कि उन्हें पहले से खिलौने बनाकर, सुखाकर और रंग करके रखने चाहिए तभी वे बिक सकेंगे।

इस पहले बाज़ार में सभी को बहुत मज़ा आया। एक छोटे-से मेले जैसा माहौल था। हम सब भी घूम-घूमकर सभी दुकानों पर जा रहे थे और कीमतें पूछकर सामान खरीद रहे थे। छोटे बच्चों के सबसे ज़्यादा मज़े थे। उनके हाथ में रुपए थे और वे अपनी मर्ज़ी से अपनी पसन्द की चीज़ें खरीद रहे थे और पैसे का भुगतान कर रहे थे। स्कूल के हमारे साथी अंकित हर दुकान पर जाकर दुकानदारों से पूछ रहे थे कि उन्होंने इस सामान की कीमत किस तरह तय की। हिसाब-किताब लगाने में मिली मदद से सब बढ़िया चल रहा था। खरीददारी करने वाले बच्चों की भी अंकित मदद कर रहे थे ताकि वे ठीक तरह से रुपए गिनकर कीमत चुकाएँ। इस तरह खेल और सीखना, दोनों साथ-साथ चल रहे थे। बच्चों के दोस्त और गणित शिक्षक - अंकित, दोनों तरह से सक्रिय थे।

साप्ताहिक बाज़ार का नया मोड़

लेकिन इसके बाद जो हुआ, दरअसल वह साप्ताहिक बाज़ार और इसकी दुनियादारी को अगले मुकाम पर ले जाने वाला रहा। हमने अपनी मीटिंग में इस साप्ताहिक बाज़ार वाले नवाचार पर बात करते हुए यह पाया कि अभी भी कुछ बच्चे इसमें उतना शामिल नहीं हो रहे हैं जितनी उम्मीद थी। इसलिए इसमें कुछ ऐसे पहलू जोड़े जाएँ जो इसे और रोचक बना दें और साथ ही, दुनियादारी के

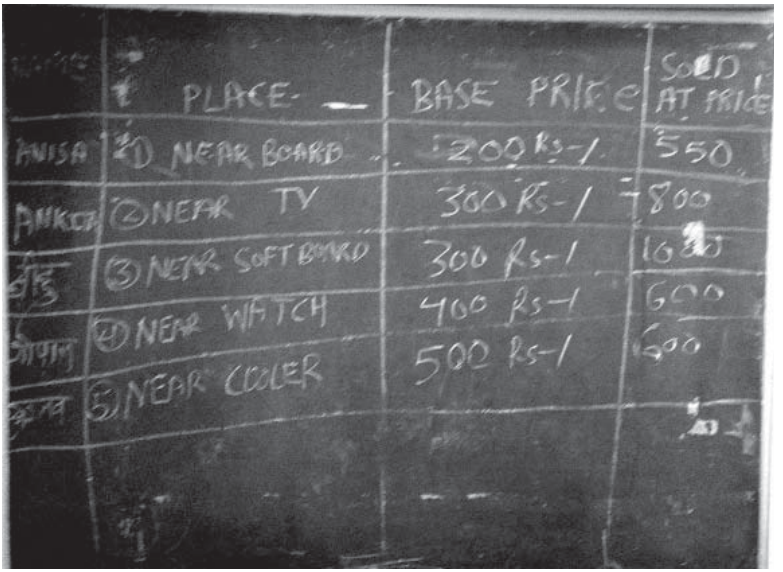

भी कुछ नए कदम इसमें शामिल किए जाएँ। विजय का अवलोकन था कि अभी नोटिस बोर्ड वाली जगह सबसे खास बनी हुई है और हर बच्चा अपनी दुकान वहीं लगाना चाहता है। उसका सुझाव था कि हम स्कूल की तरफ से इस जगह को बेचें। इसके लिए हम इसकी बोली का एक खुला प्रस्ताव सबके सामने रखें। जो दुकानदार सबसे ज़्यादा रुपए देने की पेशकश करे, उसे ये जगह आवण्टित कर दी जाए।

इस तरह अब व्यापार में जगह की कीमत भी जुड़ जाएगी। इसके अलावा बाकी सभी सामान्य जगहों की एक मानक कीमत रखी जाए और वह सम्बन्धित दुकानदार से वसूली जाए। साथ ही, टेबल-कुर्सी, चादर, डिब्बा या कोई बरतन – जो भी स्कूल से लिया जाता है, उसका भी एक न्यूनतम चार्ज लिया जाए। एक तो इससे हिसाब-किताब के कुछ नए मौके बनेंगे और साथ ही दुकानदार अपने सामान की लागत निकालते समय इन खर्चों को भी शामिल करके नए सिरे से कीमतें निर्धारित कर सकेंगे।

अगले बाज़ार के दिन सबसे पहले प्राइम जगह की बोली लगी। गोपाल और देवेन्द्र ने मिलकर सबसे ऊँची बोली लगाई और 2000 रुपए में उस जगह पर अपना हक जमा लिया। बाकी सभी जगहें सामान्य रूप से 500 रुपए में दे दी गईं। आज बाज़ार

के अन्त में अंकित ने गोपाल और देवेन्द्र के साथ बैठकर उनके हिसाब-किताब में मदद की। दरअसल, दोनों ने मिलकर गुब्बारे वाले रॉकेट की दुकान लगाई थी। उन्होंने स्कूल से गुब्बारे, कागज़, स्ट्रॉ, धागा और रबर बैंड खरीदा था। अपने खिलौनों का प्रदर्शन करने के लिए यही जगह सबसे उपयुक्त लगी थी इसलिए उन्होंने ऊँची बोली लगाकर यह जगह खरीदी थी। दो टेबल, एक चादर और एक बेंच भी स्कूल से ली थी। अंकित ने उनकी लागत का हिसाब लगाते समय एक कागज़ पर इन सब चीज़ों का खर्च लिखने के लिए कहा। उनके कुल 17 गुब्बारे वाले रॉकेट बिके थे। 200 रुपए के हिसाब से उन्होंने उस दिन कुल 3400 रुपए का व्यापार किया।

2000 रुपए की जगह, 50-50 रुपए की दो टेबल, 50 रुपए की बेंच, 50 रुपए की चादर और 500 रुपए में गुब्बारे, कागज़, स्ट्रॉ, धागा और रबर बैंड खरीदे थे। इस तरह उनकी कुल लागत थी 2700 रुपए, और उन्होंने कमाए 3400 रुपए। 2700 में से 1500 गोपाल ने और 1200 रुपए देवेन्द्र ने लगाए थे। रॉकेट बनाने का काम दोनों ने मिलकर किया था। अंकित ने कहा कि गोपाल अपने 1500 रख ले और देवेन्द्र अपने 1200 रख ले। इस तरह उनको 700 रुपए का मुनाफा हुआ। पार्टनरशिप के हिसाब से यह आधा-आधा बाँट लिया जाना चाहिए था। इस तरह उस दिन के बाज़ार से दोनों को 350-350 रुपए की कमाई हुई। हालाँकि, अभी भी कुछ कच्चा माल बचा था जिससे कुछ और गुब्बारा रॉकेट अगले बाज़ार के लिए बन सकते थे। इसका हिसाब अगले बाज़ार में देखा जाना तय हुआ।

बच्चों के नए आइडिया, नई दुकानें

पार्थ ने अगले बाज़ार के लिए कुछ चीज़ें बनाकर बेचने की बजाय एक नया ही काम सोचा। उसने एक खेल बनाया जिसके लिए एक बाल्टी और एक रबर की गेंद स्कूल से खरीदी। बाज़ार के दिन वह एक कोने में अपना खेल लेकर खड़ा हो गया। उसने आवाज़ लगानी शुरू की – 100 रुपए में पाँच बॉल फेंकने का मौका मिलेगा। अगर पाँचों बार बॉल बाल्टी के अन्दर जाएगी तो 500 रुपए का इनाम मिलेगा। बॉल दस फुट की दूरी से ज़मीन पर एक टप्पा मारकर फेंकनी थी। उस रोज़ सबसे ज़्यादा भीड़ पार्थ की दुकान पर लगी। क्या शिक्षक, क्या बच्चे, हर किसी ने अपना हाथ आज़माया। सिर्फ एक ही बच्चे को पाँचों बॉल बाल्टी में डालने में सफलता मिली। इस तरह उस दिन के बाज़ार में सबसे ज़्यादा कमाई पार्थ ने की।

इस बाज़ार ने सब बच्चों के लिए नए रास्ते खोल दिए थे। अर्णव घर से तार और कील की कुछ पज़ल लेकर आया। उसमें तार से बने हुए छल्लों

में से कील के बने छल्ले को निकालना था। अगले बाज़ार का आकर्षण अर्णव के पज़ल गेम रहे। उसने एक मौके के 50 रुपए वसूले। पज़ल सुलझाने में कोई कामयाब न हो पाया। बाज़ार के अन्त में अर्णव ने तार के छल्ले में से कील का छल्ला निकालकर दिखाया। वह घर से इसकी ट्रिक सीखकर आया था।

अब आर्ट एण्ड क्राफ्ट की कक्षाओं का क्रेज़ भी बढ़ गया था। बच्चे बहुत सारी सामग्री इसलिए भी बनाते थे ताकि अगले बाज़ार में वे उसकी दुकान लगा सकें। मिट्टी के खिलौने बनाए, सुखाए और रंगे जा रहे थे। अपनी-अपनी दुकान को सजाने के लिए भी कुछ डेकोरेटिव आइटम बनाए जा रहे थे। दुकानों के नए-नए आकर्षक नाम सोचे और रखे जा रहे थे। बच्चों ने गत्तों और ड्रॉइंग शीट पर दुकानों के साइन बोर्ड भी बनाए।

अब हुआ यह कि सभी बच्चे दुकान लगाना चाह रहे थे, लेकिन जगह सीमित थी और फिर दुकानदार

और खरीददारों की तादाद का सन्तुलन भी तो होना चाहिए था। इसके लिए नियम बनाया गया कि कोई भी बच्चा तीन बाज़ारों में लगातार दुकान नहीं लगाएगा, मतलब लगातार दो बाज़ार में दुकान लगाने के बाद उसे गैप करना होगा, जिसमें वह खरीददार होगा। कुल दुकानों की संख्या भी तय कर दी गई। जगह के हिसाब से दस दुकानें लगाई जा सकती थीं। इससे यह हुआ कि सभी बच्चों को दुकान लगाने का मौका मिलता और दुकानदारों को खरीददार भी बराबर मिलते रहते।

शुचि ने एक बाज़ार में पेंटिंग सिखाने की दुकान लगाई। उसने भिण्डी के ब्लॉक बना रखे थे और चार कटोरियों में चार रंग घोल रखे थे। कोरे कागज़ पर वह भिण्डी के रंगीन ब्लॉक से चित्र बनवा रही थी। एक शीट पर पेंटिंग बनाने की उसने 50 रुपए कीमत रखी थी। बच्चों को यह बहुत ही मज़ेदार लग रहा था। बच्चे 50 रुपए देकर अपने मनचाहे ढंग से अलग-अलग रंगों में भिण्डी के ब्लॉक डुबाकर पेंटिंग बना रहे थे और फिर चित्र बनाया हुआ कागज़ अपने पास रख ले रहे थे।

सीख व अनुभव का स्कूल बाज़ार

बाज़ार के अन्त में बच्चे सामान समेटते, कुर्सी-टेबल वापस अपनी-अपनी जगह पर रखते, स्कूल का लिया हुआ सामान वापस करते और फिर अपना हिसाब लगाने बैठते। उन्हें लागत, मुनाफे, पार्टनरशिप और बँटवारे का अच्छा-खासा अनुभव मिल रहा था। बच्चे अपने-अपने नोट गिनकर देखते कि कितनी बढ़त हुई है। बैंक में पैसे जमा करते और पासबुक में अपडेट कराके निश्चिन्त हो जाते। बाज़ार ने स्कूल में एक नया माहौल बना दिया था। इसमें रचनात्मकता थी, दुनियादारी थी, हिसाब-किताब था और खुद से कुछ करने, नया सोचने के ढेर सारे मौके थे। साप्ताहिक बाज़ार और बैंक का यह सिलसिला दो साल तक चला।

अनिल सिंह: पिछले 25 वर्षों से सामाजिक क्षेत्र में सक्रिय हैं। विगत डेढ़ दशक से प्राथमिक शिक्षा उनका प्रमुख कार्य रहा है। भोपाल के आनंद निकेतन डेमोक्रैटिक स्कूल की संकल्पना के दिनों से वे जुड़े रहे और उसका संचालन किया। वर्तमान में, टाटा ट्रस्ट के पराग इनिशिएटिव से जुड़कर बाल साहित्य और पुस्तकालय संवर्धन का काम कर रहे हैं।

सभी फोटो: अनिल सिंह।

स्कूल के ढाँचे में लोकतंत्र के प्रयोग

अमित और जयश्री

स्कूल के ढाँचे में लोकतंत्र के बारे में हमारे विचार एकाएक नहीं विकसित हुए। सन् 1999 में *आधारशिला* शुरू करते समय 'लोकतांत्रिक स्कूल' नामक अवधारणा, कम-से-कम हमारी जानकारी में भारत के किसी स्कूल में शामिल नहीं थी। ज़िन्दगी के अनुभवों से हम दोनों स्वविचारी और अपनी मर्ज़ी से निर्णय लेने वाले बन गए थे। आदिवासी संगठन, खेडुत मज़दूर चेतना संगठ में काम करने के अनुभव से इस प्रवृत्ति को और बढ़ावा मिल गया। आदिवासियों की प्रमुख समस्या यह थी कि उनके समाज, रीति-रिवाज़, जीवन मूल्य और उनके जीने या सोचने के तरीकों को जाने बिना, किसी बाहरी सत्ता ने उनके लिए ढेरों नियम-कानून बना दिए थे। इसके कारण उनके जीवन में बहुत सारी भयावह समस्याएँ पैदा हो गई थीं। सरकारी लोगों को आदिवासियों से ज़्यादा, इन नियमों को बनाए रखने में रुचि थी। बाहरी विचार और व्यवस्था इनके जीवन में इनकी सहमति से नहीं बल्कि सत्ता और ताकत के बल पर आई थी।

लम्बे समय तक ऐसे कार्यक्षेत्र में रहने के कारण हमारे मन में भी यह बात घर कर गई थी कि लोगों की बात सुनी जानी चाहिए और लोगों को अपनी ज़िन्दगी तय करने की छूट होनी चाहिए। नर्मदा बाँध के मुद्दे पर भी यही बात सामने आई कि देश के बड़े-बड़े शहरों और उद्योगपतियों द्वारा तय की गई तथाकथित विकास की अवधारणाओं के हिसाब से बड़े बाँधों की योजना बनी और लाखों लोगों को उसका खामियाज़ा भुगतना पड़ा। आज तक यह सिलसिला जारी है।

तो, किसी स्कूल में बच्चों की मर्ज़ी चलनी चाहिए, यह स्वाभाविक रूप से

हमें सही लगता था। यह पूरी तरह न भी सम्भव हो तो भी कम-से-कम कोई ज़ोर-ज़बर्दस्ती न हो उन पर, यह तो बहुत स्पष्ट था। *आधारशिला* शुरू करने के पहले जॉन होल्ट की किताब *बच्चे असफल क्यों होते हैं?* को पढ़ा था जिससे बच्चों को केन्द्र में न रखते हुए पाठ्यक्रम बनाकर उनपर थोपने के, उनके विकास एवं चरित्र पर क्या दुष्परिणाम होते हैं, वे भी समझ आए थे। शायद इसीलिए शुरू के सालों में हमारे लिए बच्चों से रोज़ पूछना कि आज क्या करना है, बहुत स्वाभाविक था। इस तरह से भी शिक्षा की शुरुआत हो सकती है, इस बात को समझने के लिए हमारा मन पहले से ही तैयार था। इसके लिए कोई बड़ी या लम्बी वैचारिक छलाँग हमें नहीं लगानी पड़ी।

तो इस मूल विचार से हमने काम शुरू किया कि यह जगह मूलतः बच्चों की है। जैसा पिछले लेख में साझा किया था कि सवेरे बच्चे हॉल में इकट्ठा होते थे और कुछ दैनिक गतिविधियों के बारे में सोच-विचार करते थे और फिर सब लोग उन्हें करने में जुट जाते थे। ऐसा नहीं था कि सब कुछ उनकी मर्ज़ी से चलता हो। काफी सारा समय पहले से तय कामों में भी जाता था।

स्कूल चलाने के अलग-अलग पहलुओं में बच्चों की राय को सामने लाने के लिए समय-समय पर कई तरीके अपनाए गए थे। ऐसे ही कुछ तरीके लागू करने के अनुभव इस लेख में आपसे साझा कर रहे हैं। इन्हें ही आधारशिला में लोकतंत्र के प्रयोगों के रूप में देखा जा सकता है।

पहली सीख

पहले साल तो हम बहुत जोश में थे। हमें लगा कि बच्चों से भी शिक्षकों का मूल्यांकन करवाना चाहिए। हमें मालूम था कि दिल्ली के एक स्कूल में यह होता था – बड़ी कक्षा के छात्रों का प्रिंसिपल के साथ एक पीरियड होता था जिसमें बच्चों से वे स्कूल के बारे में पूछते थे, जैसे परीक्षा छुट्टी के बाद हो या पहले? टीचर्स के बारे में भी पूछते थे। कोई-न-कोई खड़ा होकर किसी शिक्षक के बारे में बोल देता था। डस्टर मारना, ठीक-से न समझाना आदि। इससे, स्कूल में क्या चल रहा है, उन्हें पता चलता था और बच्चों को अपने बड़े होने का अच्छा एहसास होता था। तो, हमें भी लगा कि बच्चों से पूछा जाए कि उन्हें पढ़ाई कैसी लग रही है, शिक्षक कैसा पढ़ा रहे हैं आदि। हालाँकि, शिक्षकों को मीटिंग करके समझाया गया था कि यह इसलिए किया जा रहा है ताकि हम सब और बेहतरी से बच्चों की मदद कर सकें, लेकिन जिस तरह बच्चों ने अपना फीडबैक दिया, उससे शिक्षक बहुत नाराज़ हो गए।

बच्चों ने पढ़ाने के तरीकों के बारे में तो कुछ नहीं कहा लेकिन शिक्षकों के व्यवहार के बारे में ज़रूर बोला,

जैसे, क्लास में गुटका खाकर आते हैं तो अच्छा नहीं लगता, या मारते हैं तो अच्छा नहीं लगता। शिक्षकों को यह बात बिलकुल अच्छी नहीं लगी कि शिक्षकों के बारे में ऐसी बातें करने के लिए बच्चों को उकसाया जाए। बच्चों को भी यह सन्देश मिला कि वे शिक्षक की शिकायत कर सकते हैं इसलिए उन्हें शिक्षकों की बात सुनना ज़रूरी नहीं है। बच्चे हमें शिक्षकों के ऊपर मानते थे और कहीं-न-कहीं यह हाइरार्की यानी सत्ता की व्यवस्था थी भी। जब बच्चों का सत्ता से सीधा सम्बन्ध बन गया तो उन्होंने शिक्षकों की बात सुनना एवं मानना कम कर दिया। इसलिए इस प्रयोग को रोक दिया गया। हम सबके लिए एक महत्वपूर्ण सीख यह थी कि लोकतंत्र के लिए बड़ों को अपने अहं को दूर करना पड़ेगा। बड़ों के लिए बराबरी स्वीकार करना बहुत कठिन होता है। सत्ताविहीन होने को स्वीकारना बहुत मुश्किल होता है। शिक्षकों के मन में 'शिक्षक' की एक स्टिरियोटाइप छवि थी जिसे हम शुरुआती दौर में तोड़ नहीं पाए।

दिनचर्या में बच्चों का योगदान

बच्चे अपनी दिनचर्या स्वयं ही तय कर सकें, इस बात की भी कोशिशें आधारशिला में लगातार होती रहीं।

यमुना और कावेरी ग्रुप के छोटे

बच्चों के साथ एक प्रयोग किया गया जिसे हम **'मेन्यू-कार्ड'** कहते थे। बच्चों को दिनभर की अपनी दिनचर्या तय करने के तरीकों के बारे में सोचते हुए, इस मेन्यू-कार्ड का आइडिया आया। जैसे रेस्त्राँ के मेन्यू-कार्ड में वहाँ उपलब्ध खाद्य पदार्थों की सूची होती है, और ये पदार्थ अलग-अलग श्रेणियों में बँटे होते हैं, जैसे - सब्ज़ियाँ, शाकाहारी, मांसाहारी, पेय पदार्थ आदि, वैसे ही सोचा गया कि क्यों न समस्त सम्भव कामों का एक मेन्यू-कार्ड बना दिया जाए जिसमें से बच्चे चुन सकें कि उन्हें क्या करना है। उस समय इन समूहों की शिक्षण सहयोगी, मजली थी। शिक्षण सहयोगी - यह नाम हमने दिया था। बच्चे मजली को

दीदी बुलाते थे और बाकी सब शिक्षक एक-दूसरे को टीचर ही बुलाते थे। मजली के माध्यम से इस मेन्यू-कार्ड पद्धति को लागू किया गया।

इसके लिए सबसे पहले हमने एक सूची बनाई, जिसमें बच्चों के साथ किए जाने वाले विभिन्न कामों को अलग-अलग शीर्षकों के अन्तर्गत लिखा गया, जैसे – लिखने के तहत यात्रा वृत्तान्त, निबन्ध, पत्र आदि, पढ़ने के तहत लाइब्रेरी से किताब पढ़ना, पाठ पढ़ना आदि, खेल खेलना, गीत गाना, चित्रांकन - रंगीन पेंसिल से या धागा ड्रॉइंग आदि, गणित के सवाल, घूमने जाना, अवलोकन, विज्ञान, सर्वे करना, कहानी सुनना, कविता याद करना... आदि। जो कुछ भी इतने सालों में किया गया था, वह सब सूची में लिख दिया गया। इस लिस्ट में लगभग 160 आइटम थे जिनमें से बच्चे चुन सकते थे। बच्चों के सामने यह मेन्यू-कार्ड एक पुष्टे पर चिपके कागज़ के रूप में था और इसी सूची को रजिस्टर में भी लिखा गया था जिसके आगे तारीखों के कॉलम बने थे।

रोज़ सवेरे जब मजली दीदी कक्षा में पहुँचतीं तो मेन्यू-कार्ड बच्चों के सामने रख देतीं और बच्चे आपस में तय करते कि आज उन्हें क्या-क्या करना है। एक समूह में 8-10 बच्चे ही होते थे इसलिए आपस में सहमति बनाना उतना कठिन नहीं होता था। लिस्ट के सामने बने कॉलम में, जो काम करने का तय होता था, उसके आगे सही का निशान लगा दिया

जाता। कॉलम के ऊपर तारीख लिखी होती थी। फिर सर्व-सहमति से ही टाइम टेबल बना लेते थे और लग जाते थे काम पर।

हम लोगों को मेन्यू-कार्ड की यह स्कीम इतनी जँच गई कि फिर ज़्यादा सोचने का काम नहीं रहा। ऐसा लगा कि अरे, कितना सरल और सुलभ तरीका है बच्चों की राय को शामिल करने का। हम पालकों को भी यही समझाते थे कि होटल में जो माँगते हो, वही मिलता है, तो बच्चे को खुद के लिए जो चाहिए, उसमें उसकी भी राय पूछने में क्या हर्ज़ है। शिक्षा भी तो दिमाग का भोजन है। वैसे काफी पालकों, खास तौर से माँओं ने तो कभी भी होटल में खाना नहीं खाया होता था लेकिन वे हमारी बातें मान लेते थे। हमारे व शिक्षकों के मन में यह आशंका तो थी कि इससे कोर्स कैसे पूरा होगा या यदि बच्चों ने खेलों को ही चुना तो क्या होगा आदि। लेकिन हमारा तरीका यह होता था कि कोई आइडिया अच्छा लग रहा है तो उसे करना तो शुरू करें, फिर जैसे-जैसे आगे बढ़ते जाएँगे, उससे उभरने वाली समस्याओं से निपटते रहेंगे।

मेन्यू-कार्ड काफी अच्छा चला। बच्चे हालाँकि, अक्सर खेल चुनते थे लेकिन केवल खेल ही नहीं चुनते थे, औपचारिक पढ़ाई के काम भी चुनते थे। गुरुवार होते-होते उन्हें लिस्ट में दिखता था कि कौन-से कामों के आगे सही का निशान नहीं लगा है। फिर उन कामों को भी कर लेते थे। कई बच्चे कहते भी थे कि दीदी बहुत दिनों से गणित के सवाल नहीं किए, आज गणित ही ज़्यादा करते हैं। चूँकि मजली बचपन से ही आधारशिला में पढ़ी थी, वह नए तरीकों को अपनाने के लिए जल्दी ही तैयार हो जाती थी। किसी भी नए प्रयोग में शिक्षक का सहमत होना बहुत ज़रूरी होता है। मजली ने बताया कि बच्चों को यह बहुत अच्छा लग रहा है और हर समय बच्चों को चुप कराते रहने का टेन्शन भी नहीं रहता। जो काम बच्चे चुनते थे, उसे करने में लगे रहते थे। लेकिन बच्चे तो बच्चे ही होते हैं, बहुत बार नहीं भी करते, यह भी हमें जान लेना चाहिए।

ऐसा भी नहीं था कि मजली कुछ नहीं देखती थी। उसके पास भी एक कार्यक्रम होता था कि महीने में क्या काम खत्म करना हैं। वह भी मेन्यू-कार्ड पर नज़र रखती थी और जब उसे लगता था कि कोई विषय पीछे छूट रहा है तो उसे अपनी ओर से दिनचर्या में जोड़ देती थी। यह इसलिए भी ज़रूरी था क्योंकि अन्ततः बच्चों के माता-पिता का आग्रह होता था कि बच्चों को परीक्षा में बिठाना है। उस समय पाँचवीं में पहली बोर्ड परीक्षा होती थी। तो कुछ हद तक बच्चों को स्कूल की बोझिल किताबें पढ़ने, समझने, प्रश्न-उत्तर हल करने और लिखने का अभ्यास करवाना भी ज़रूरी था।

कुल मिलाकर, यह कह सकते हैं कि यह प्रयोग सफल रहा। यह समझ में आया कि हम बच्चों से बहुत आसानी-से यह तय करवा सकते हैं कि वे कक्षा में क्या करना चाहते हैं और उस तरह से रोज़ कक्षाएँ चल सकती हैं। बच्चे अपनी पढ़ाई के प्रति लापरवाह रहेंगे, खेल ही चुनते रहेंगे - ये आशंकाएँ भी गलत साबित हो गईं। जब बच्चों को पता चलता था कि परीक्षा आने वाली है तो वे उसके अनुसार ही टाइम टेबल बनाते थे और ज़्यादा पढ़ाई वाले काम चुन लेते थे। बच्चे खुद तय करें कि वे क्या सीखना चाहते हैं, यह बहुत अच्छा अनुभव था।

आपी-आपी

कई बार ऐसा भी होता था कि स्कूल शुरू होने के समय बच्चे फूल की क्यारियों में बैठकर कुछ करने लगते थे या फूल चुनकर, ज़मीन पर कुछ आकृतियाँ बना रहे होते थे। सर्दियों में अपनी-अपनी मेथी-पालक की क्यारियाँ बनाते थे या अपने पेड़ों में पानी डालते थे। एक बार तो स्कूल में झोपड़ियाँ बनाने का सिलसिला चल पड़ा तो सब उसी में भिड़े रहते थे। हम लोग कोशिश करते थे कि उन्हें डिस्टर्ब न करें और धीरे-से उन्हें पढ़ाई के कार्यक्रम में ले जाएँ। नए शिक्षकों को यह समझाते थे कि स्कूल में बच्चों का अपनी मर्ज़ी से किसी काम में लग जाना, एक बहुत आदर्श व्यवहार है। बच्चों की सहज प्रकृति होती है कि वे अपने लिए कुछ-न-कुछ काम ढूँढ लेते हैं। हमें उन्हें छूट देनी चाहिए और जो भी वे करें, उसे स्वीकार करना चाहिए। जैसे वे इन कामों में जुट जाते हैं, वैसे ही उन्हें पढ़ाई की प्रेरणा भी अपने आप मिलनी चाहिए।

असल में, जब हमारी बेटी छोटी थी तब वह बहुत कुछ आपी-आपी करती थी। वह बचपन से ही बहुत स्वतंत्र मिजाज़ की थी। शायद सब बच्चे होते हों लेकिन फिर इन सबको दूसरों द्वारा बनाए गए नियमों पर चलना सिखा दिया जाता है। खैर, बात यह थी कि बचपन में कुछ भी काम हो, चाहे नहाना हो या खाना, वह कहती थी - आपी-आपी। मतलब, उसे अपने आप करना है। यह शब्द हमें बहुत अच्छा लगा। किसी काम को अपने आप करना बहुत अच्छी बात तो हमें लगती ही थी, साथ ही, आपी-आपी करना, मतलब बच्चा या कोई भी उस काम की ज़िम्मेदारी भी स्वयं ले रहा है। उसके निर्णयों के लिए वह स्वयं ज़िम्मेदार है, यह बात एक लोकतांत्रिक व्यवस्था के लिए बहुत ज़रूरी है। लोकतंत्र की बात करते समय अक्सर हम केवल अपनी आवाज़ सुने जाने की बात ही करते हैं लेकिन ध्यान से सोचें तो जब हम अपने तरीके से जीने की चाहत रखते हैं तो अपने आप ही हम खुद ज़िम्मेदारी लेने की बात भी कर रहे

होते हैं। आपी-आपी पुस्तकों के प्रयोग को लोकतंत्र वाले इस लेख में डालना इसीलिए हमें उचित लगा।

कुछ बच्चे उम्र में बड़े होने के साथ-साथ पढ़ाई में भी ठीक-ठाक कौशल रखते थे। क्लास में तो सब बच्चों को एकसाथ लेकर आगे जाना होता है और सभी शिक्षक इस बात को भलीभाँति जानते हैं कि कक्षा में सबसे धीरे सीखने वाले और सबसे तेज़ सीखने वाले, दोनों तरह के बच्चे बोर होते रहते हैं। लेकिन आपी-आपी पुस्तिकाओं के माध्यम से यह समस्या हल हो जाती थी। सबसे पहले ये पुस्तकें तेज़ी-से सीखने वाले बच्चों के लिए बनीं जिनमें से एक था कमल (जो अर्थशास्त्र में पीएच.डी. करने के बाद अब सहायक प्रोफेसर है)। वह क्लास में बड़ा भी था और एक ही बार में बात समझ जाता था, और दिए गए सवाल तुरन्त हल करके बैठा रहता था। गणित और अँग्रेज़ी के लिए यह प्रयास किया गया। इन्हें हम हाथ से ही लिखकर दे देते थे। इन पुस्तिकाओं को बनाने में खास चुनौती थी कि निर्देश बहुत सरल भाषा में लिखने होते थे। इतने सरल जो बच्चे पढ़कर समझ सकें।

बाद में, इसी अनुभव से अँग्रेज़ी की बुक-1, बुक-2,...बुक-6 तक बनाई गईं जो फोनेटिक सिस्टम पर आधारित थीं। गणित की वर्कशीट भी बनाकर दीं। इन दोनों का अनुभव बहुत अच्छा था। इनको हल करने में बच्चे बहुत ही तल्लीन हो जाते थे। एक ही ग्रुप के बच्चे अलग-अलग लेवल की वर्कशीट या अँग्रेज़ी किताब को अपने आप हल करते रहते थे। एक ही ग्रुप के अलग-अलग स्तर के बच्चे अपने हिसाब से प्रगति करते थे। यदि

अधिकतर बच्चे वर्कशीट खत्म कर लेते और कुछ ही बच्चों की नहीं हुई होती तो उन बच्चों को भी वर्कशीट खत्म करने की जल्दी होती थी। हालाँकि, शिक्षकों की ओर से ज़्यादा दबाव न होने के कारण, उन्हें कोई तनाव नहीं होता था। बाद में तो अँग्रेज़ी और गणित के टाइम टेबल भी इन्हीं स्तरों के हिसाब से बनते थे। एक स्तर के बच्चे एकसाथ हो जाते, चाहे वे किसी भी ग्रुप में हों। यह बहुत पेचीदा काम होता था लेकिन यह व्यवस्था चल पड़ी। बिना शिक्षक के भी बच्चे अपने आप काम करते रहते थे। शिक्षक का काम था – बच्चों के काम को जाँचना, न आए तो बताना और वर्कशीट-बुक पूरी हो जाने पर टेस्ट लेना।

व्यक्तिगत कार्यक्रम

आपी-आपी का ही एक और तरीका था, बच्चों द्वारा खुद के लिए व्यक्तिगत कार्यक्रम तय करना। तीसरे साल से बड़े बच्चों के साथ हमने यह प्रयोग करना शुरू किया था। हमें लगता था, बल्कि आज भी लगता है कि हर बच्चे को अपनी मर्ज़ी से सीखने का कार्यक्रम तय करना चाहिए। और हमारा काम है, वे जो भी सीखना चाहते हैं, उसमें उनकी मदद करें। बड़े बच्चों के ग्रुप में पाँच-छः बच्चे थे। उनसे बोला गया कि वे जो जानना चाहते हैं, वह सोचकर बताएँ। वे जो भी करना चाहते थे, वह इतना ज़बर्दस्त था कि आज भी हमें वे सवाल और कथन याद हैं।

महेश ने कहा कि वह मुर्गियों की भाषा पता करना चाहता है। यह तो हमने सोचा ही नहीं था कि ऐसा भी कुछ हो सकता है। कमल ने कहा कि चाँद पर ऑक्सीजन कैसे बना सकते हैं, यह सोचना है, जिससे वहाँ रह सकें। शायद उसने अखबार में कुछ पढ़ा हो या विज्ञान क्लास में बताई चाँद की बात उसके दिमाग में घर कर गई हो। वंदना को जानना था कि अँग्रेज़ कहाँ से आए, कैसे आए। राधेश का प्रश्न था कि लोग झगड़ा क्यों करते हैं। हम लोग तो इन प्रश्नों से ही इतने मुग्ध हो गए कि बच्चों द्वारा प्रश्न पूछने से ही सफलता का एहसास होने लगा था। दूरदराज़ गाँवों में रहने वाले, आदिवासी बच्चे भी कुछ भी सोच सकते हैं, और ऐसी बातें जानना चाहते हैं, इस विचार को प्रत्यक्ष साकार होते देखना हमारे लिए बहुत ही खुशी देने वाला और सीखने की माकूल जगह की ताकत का प्रतीक था।

महेश के लिए हम एक वॉकमैन रिकॉर्डर खरीदकर लाए जिसमें उसने मुर्गियों की अलग-अलग आवाज़ों को रिकॉर्ड किया। उसने हमें बताया कि मुर्गी अपने चूज़ों को खाने की तरफ ले जाने के लिए अलग आवाज़ निकालती है और यदि ऊपर चील आ गई हो तो बचने के लिए

दूसरी तरह की आवाज़। उसी से हमें यह भी पता चला कि मुर्गी की आँख ऐसी जगह होती है कि वह ऊपर और नीचे, दोनों ओर आसानी-से देख सकती है - नीचे खाना, ऊपर खतरा।

कमल के दिमाग में तो बहुत सरल-सा आइडिया था, चाँद पर ऑक्सीजन बनाने का - मिट्टी व पानी यहाँ से ले जाना और शुरुआत में वहाँ किसी काँच के कमरे में पेड़ लगा देना। वंदना को अपने प्रश्न का उत्तर अँग्रेज़ों वाले पाठ की चर्चा में मिला जब जयश्री ने बच्चों के सामने वास्को ड गामा की जहाज़ी यात्रा का एक बहुत ही रोमांचक वर्णन प्रस्तुत किया। अँग्रेज़, एक व्यापक शब्द के रूप में था, किसी भी यूरोपीय विदेशी के लिए।

बाद में, बड़े ग्रुप के साथ भी व्यक्तिगत कार्यक्रम बनाने की कोशिश की गई। बच्चों से पूछा गया कि क्या वे कक्षा में किताबों से पढ़ना चाहते हैं या अपने आप किसी रुचि के विषय को आगे बढ़ाना चाहते हैं। कुछ बच्चों ने कहा कि वे अपनी रुचि से पढ़ना चाहते हैं जिसमें निलेश ने कहा कि वह पानी रोकने के काम के बारे में पढ़ना चाहता है। उसने और उसके एक साथी सुरेश ने न केवल, *आज भी खरे हैं तालाब* किताब को कुछ पढ़ा और देखा, बल्कि उन्होंने पानी रोकने के लिए खंतियाँ भी खोदीं। इनकी वजह से सबने ए-फ्रेम बनाया और कॉन्टूर रेखाओं के बारे में जाना।

प्रकाश की रुचि ऑरिगेमी में थी।

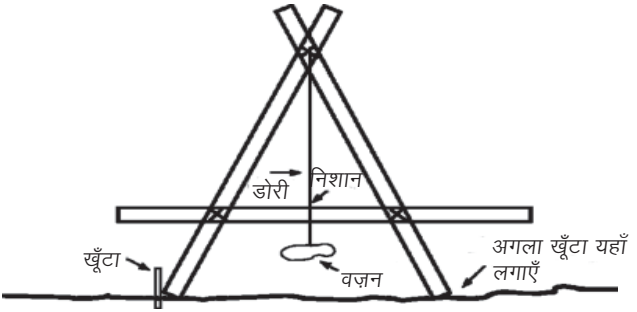

ए-फ्रेम एक सरल उपकरण है जिसका उपयोग भूमि पर समोच्च रेखाएँ (contour lines) चिह्नित करने के लिए किया जाता है, जो किसी स्थल की ढलान (गहराई और ऊँचाई) में होने वाले बदलावों को दर्शाती हैं। ए-फ्रेम दो लम्बी लकड़ियों से बना होता है जिन्हें ऊपर की ओर जोड़कर 'A' आकार दिया जाता है, और स्थिरता के लिए बीच में एक क्रॉसबार लगाई जाती है। इसके ऊपर के केन्द्र में एक डोरी के साथ वज़न या एक स्पिरिट लेवल लगाया जाता है। ज़मीन पर ए-फ्रेम को रखकर और उसे इस तरह घुमाकर कि डोरी क्रॉसबार के ठीक बीच में रहे (या स्पिरिट लेवल एकदम क्षैतिज हो), ए-फ्रेम की दोनों टाँगें समान ऊँचाई वाले बिन्दुओं को दर्शाती हैं। इस तरह भूमि पर समोच्च रेखाएँ खींची जा सकती हैं, जो पानी प्रबन्धन और मिट्टी कटाव रोकने में मदद करती हैं। चित्र इंटरनेट से साभार।

उसने लाइब्रेरी से ऑरीगेमी की दो किताबें निकालीं और दोनों किताबों की सभी आकृतियाँ उसने बना लीं। हम लोग काफी चकित थे कि उसने कैसे उनके सारे संकेत, जिनमें से कुछ तो काफी पेचीदा थे, याद करके स्वयं सीख लिए। अन्त में, उसने सेंधवा के, उस समय के एकमात्र अँग्रेज़ी माध्यम के सेंधवा पब्लिक स्कूल में जाकर शहर के बच्चों को ऑरिगेमी से कलाकृतियाँ बनाना सिखाया। यह सब हमारे लिए बहुत रोमांचक था और एक आदर्श शिक्षा व्यवस्था का प्रतीक भी। बाद में, इसी स्वशिक्षा के क्रम को आगे बढ़ाते हुए प्रकाश ने बाहर जाकर सोलर का काम भी सीखा। कई बच्चों को उनकी रुचि के काम सीखने के लिए अन्य संस्थाओं में भेजा गया जैसे अभिषेक पूना की एक संस्था में जानवरों के इलाज के बारे में सीखने गया, जमुना और रेवली हाथ से धागा और कपड़ा बनाना सीखने के लिए वेडछी के सम्पूर्ण क्रान्ति विद्यालय गईं। पुष्पेन्द्र और सारंग नासिक की अभिव्यक्ति संस्था में वीडियो एडिटिंग सीखने गए।

एक बार सभी समूहों के कुल मिलाकर बीस बच्चों ने अपना-अपना कार्यक्रम बना लिया। यह बात बहुत रोचक थी लेकिन हमारे पास उनके इन सब गूढ़ प्रश्नों और कामों को गाइड करने के लिए पर्याप्त जानकार लोग उपलब्ध नहीं थे। इस कारण व पालकों द्वारा बच्चों के परीक्षा में सफल होने के आग्रह के कारण, यह काम यहीं छूट गया। टाइम टेबल बनाने की समस्या भी नहीं सुलझ रही थी। आठवीं आते-आते वैसे भी बच्चे स्कूल की किताबें पढ़ने लगते थे क्योंकि बोर्ड की परीक्षा देनी होती थी।

क्लास से छूट!

एक बार हमने देखा कि बहुत-से बच्चे क्लास में नहीं बैठना चाहते थे, इसके बावजूद कि हमारे हिसाब से हम बहुत ही रोचक तरीके अपना रहे थे। जैसे एक बार हम एक कमरे में ज्वार के डण्डों से बने टाटले (ज्वार/बाजरे के डण्डों को बाँधकर और उसे लीपकर दीवार या छत के लिए बनाई जाने वाली संरचना) के बीच से कमरे के अन्दर आती सूर्य की किरणों को देख रहे थे और साथ ही यह अनुमान लगाने की कोशिश कर रहे थे कि यदि इनके पथ में एक आरसा रखा हो तो ये किरणें किधर जाएँगी। इतना मज़ेदार काम चल रहा था, फिर भी यह दिखा कि कुछ बच्चों का मन कहीं और था। वे कमरे के अन्दर-बाहर आ-जा रहे थे। अपनी ही बातों में लगे रहते थे। ऐसा कई दिनों से चल रहा था। हर समय ऐसा होता ही रहता था। आखिरकार हमने बच्चों से पूछा कि "क्या क्लास में बैठना अच्छा नहीं लगता? क्लास में जो चल रहा है, उसमें मज़ा नहीं आ रहा?" उन्होंने

कहा, "क्लास में बैठने का मन नहीं करता।" हमने पूछा, "कौन-कौन क्लास में नहीं बैठना चाहता?" तीन-चार बच्चों ने सहमे-से हाथ खड़ा कर दिया। "ठीक है। तो बाहर जाकर क्या करना चाहते हो? क्या करोगे, बता दो और बाहर जाकर जो करना चाहते हो, वो करो।" बच्चे काफी हैरान थे और हँस भी रहे थे। शायद उन्हें समझ नहीं आ रहा था कि यह मज़ाक चल रहा है या सही में उन्हें उनकी बेतुकी-सी चाहत की इजाज़त दी जा रही थी। क्योंकि हम मज़ाक नहीं कर रहे थे, हमारे चेहरे से गम्भीरता झलक रही थी।

चम्पा ने कहा कि वह सर्वे करना चाहता है कि लोग शराब क्यों पीते हैं। दिव्या ने कुछ और बताया। एक-दो बच्चे और सर्वे की इच्छा जताकर बाहर निकल गए। जो बच्चे रह गए, वे भी हैरान थे। खैर, ये बच्चे दो-तीन दिन तक क्लास में बैठने नहीं आए। किसी ने बताया कि ये लोग कोई सर्वे नहीं कर रहे। ये तो चाटली जाकर क्रिकेट मैच देखते रहते हैं। दो-तीन दिनों के बाद ये सब बच्चे अपने आप ही क्लास में आकर बैठने लगे। किसी ने कहा कि इन्हें लगा होगा कि दूसरे बच्चे कुछ सीख जाएँगे और ये रह जाएँगे। लेकिन जब ये वापस आए तो इन्होंने बताया कि दो दिन इन सबने क्या-क्या किया। इसमें उन्होंने क्रिकेट मैच के बारे में भी बताया और शराब के सर्वे के बारे में भी।

बाद तक हमें वॉलंटियर बताते थे कि उनका आधा दिन तो बच्चों को ढूँढने में ही चला जाता है। वे क्लास में नहीं बैठते। हमने समझ लिया था कि ऐसा क्यों होता होगा। बच्चे अपने जानवर चराने के लिए गाँव में दिनभर घूमते थे। नदी पर जाते थे, खेलते थे। एक जगह बैठकर कुछ करना, उनके

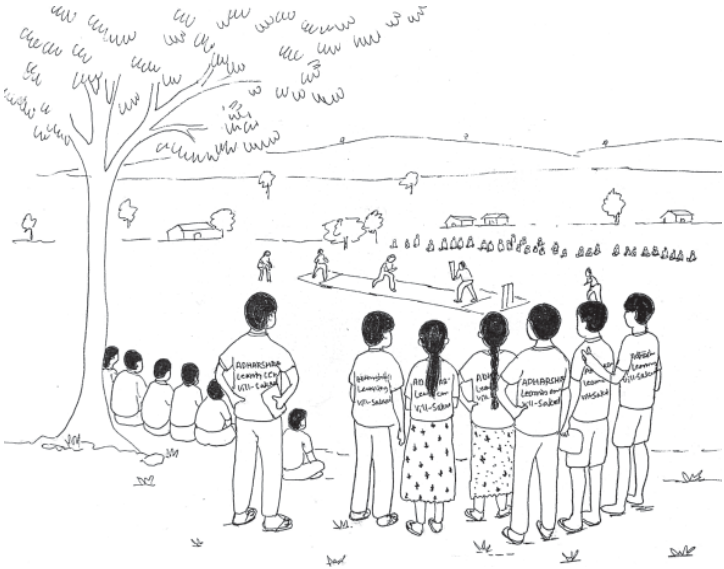

लिए बहुत ही बोरिंग होता होगा। गाँव के जीवन में कुछ-न-कुछ होता रहता था। तो यदि उन्हें एक जगह बैठकर कुछ बोरिंग काम करते रहने की आदत डालने में समय लग रहा था, तो ठीक ही था।

* * *

बच्चे अपनी बात खुलकर कह सकें, इसके लिए तीन प्रमुख व्यवस्थाएँ थीं - बच्चों का मंत्रीमण्डल, स्वशासन व साप्ताहिक अखबार।

बच्चों का मंत्रीमण्डल

जब भी आधारशिला में कोई मेहमान आते थे तो अमूमन वे हमारे घर के बरामदे में आकर बैठते थे। बच्चे उन्हें देखने के लिए भीड़ लगा देते थे। थोड़ी देर में कोई बच्चा पानी ले आता था। आम तौर पर यह बच्चा स्कूल का मेहमान मंत्री होता था। अगर नहीं लाता था तो मेहमान मंत्री को ढूँढा जाता था। यदि अतिथी रुकने वाले होते थे तो मेहमान मंत्री उन्हें कमरा दिखाता था। मेहमान-रूम की सफाई करता था और मेहमान के लिए बालटी, मग, गिलास आदि कमरे में रखवाता था। मेहमान के वापस जाने पर ये सब सामान वापस रखने की ज़िम्मेदारी भी उसकी ही होती थी।

स्कूल चलाने के प्रत्येक पहलू में बच्चों का सहभाग होता था। आवासीय स्कूल होने के कारण यहाँ बहुत सारे काम होते थे। सभी कामों की लिस्ट बनाई गई और प्रत्येक काम को देखने के लिए बच्चों में से ही मंत्री बनाए गए - मेहमान मंत्री, शिक्षा मंत्री, खेल मंत्री, मेस मंत्री, बैंक मंत्री, स्वास्थ्य मंत्री, झगड़ा मंत्री, सफाई मंत्री, खेती मंत्री, श्रमदान मंत्री और

एक टीवी मंत्री भी था। प्रत्येक मंत्री का एक सहयोगी भी था। सभी मंत्रियों को शिक्षकों के बीच बाँट दिया गया। यह अपेक्षा थी कि शिक्षक इन मंत्रियों को गाइड करेंगे और देखेंगे कि जो ज़िम्मेदारी दी गई है, वह पूरी हो रही है या नहीं। सभी मंत्रियों की नियमित मीटिंग होती थी या अलग से बुलाकर हम या शिक्षक उनके काम के बारे में बातचीत करते थे।

सबसे अधिक ज़िम्मेदारी तो मेस मंत्री की होती थी। उसे रोज़ आटा-दाल तोलकर निकालना होता था। इसके अलावा श्रमदान मंत्री को बताकर, श्रमदान के समय बच्चों के समूह से गेहूँ साफ करवाना, उसे पिसवाने भेजना, खाना बनाने में मदद करने के लिए टीम की ड्यूटी लगाना आदि। रसोई की साफ-सफाई देखना, हाट के दिन सब्ज़ी लाना, खाना बाँटना – बहुत-से काम होते थे। इसके लिए सबकी बारी लगती थी। एक बार पता चला कि मेस मंत्री ज़्यादा रोटियाँ ले लेते हैं और पहले ही खा लेते हैं। तेल भी अलग से डाल लेते हैं। पूछने पर बहुत सामान्य चेहरे से उसने बताया कि हम मंत्री हैं तो ले लेते हैं! (यह तो हमारा हक ही है न!) गाँव के अनुभवों के आधार पर उन्हें इसमें कुछ गलत नहीं लगता था। गाँव के सरपंच व पंचायत मंत्री भी तो अपने लिए कुछ-न-कुछ निकाल लेते हैं।

टीवी मंत्री सबसे चुस्त रहता था। प्रत्येक रविवार को बच्चों को फिल्म दिखाने का वायदा किया गया था। तय समय पर वो ज़रूर ही प्रकट हो जाता था। टीवी व सीडी प्लेयर हॉल में ले जाना, फिल्म की सीडी चुनना, बच्चों को शान्ति से बिठाना और फिल्म पूरी होने के बाद सारी चीज़ें सम्भालकर वापस रखना। यह सब टीवी मंत्री एवं उसका सहयोगी खुशी से करते थे।

श्रमदान मंत्री का काम सबसे टेढ़ा था क्योंकि बहुत काम होता था। खास तौर पर खेती के समय। बहुत बार खाना बनाने के लिए दो या तीन की जगह एक ही महिला मौजूद होती थी तो खाना बनाने में भी बच्चों को मदद करनी पड़ती थी। कभी-कभी तो पूरा खाना शिक्षक और बच्चे ही बनाते थे। यह काम बहुत कठिन था। काम कभी खत्म ही नहीं होता था। ये सारे काम ठीक से करवाना श्रमदान मंत्री और शिक्षक की ही ज़िम्मेदारी होती थी। श्रमदान मंत्री सफाई की बारी और गाय चराने की बारी भी लगाता था। हालाँकि, एडमिशन के समय बताया जाता था कि यहाँ बच्चे पढ़ाई के साथ-साथ बहुत काम भी करते हैं, लेकिन बच्चों को तो ज़्यादा काम करना अच्छा नहीं लगता था। बड़े बच्चों पर अधिक भार पड़ता था तो वे आना-कानी करते थे। खेती, सफाई, सब्ज़ी, प्लॉट के काम – बहुत-से काम होते थे। प्रतिदिन एक घण्टा श्रमदान करना होता था।

आधारशिला में किसी भी बड़े खेती वाले सामूहिक परिवार की तरह बहुत सारे विभिन्न तरह के काम होते थे - खेती से सम्बन्धित अनेक काम, सफाई, पढ़ाई, बच्चों का स्वास्थ्य, भोजन, सब्ज़ियाँ उगाना, पेड़ लगाना, सर्वे, परीक्षा, नाटक, शैक्षणिक भ्रमण, वार्षिक उत्सव, बाज़ार से सामान लाना, जानवरों की देखभाल, सैकड़ों तरह-तरह के औज़ारों व खिलौनों आदि को व्यवस्थित रखना, लाइब्रेरी और पता नहीं क्या-क्या। बिना इन मंत्रियों के स्कूल का जीवन-चक्र चलाना असम्भव था। इससे बच्चे निश्चित ही ज़िम्मेदार बने होंगे लेकिन अन्ततः मंत्री काम करवाने वाले कार्यकर्ता के रोल में आ गए। फिर भी उनके घरों में जितना काम उन्हें करना पड़ता था, उससे यह कम था। और साथ में अच्छी-खासी पढ़ाई कर रहे थे। बोर्ड परीक्षाओं में अच्छे अंक ला रहे थे और कभी-कभी राष्ट्रीय प्रतियोगिताओं में भी अव्वल आ रहे थे। खेल में भी आधारशिला की टीम ज़िले स्तर पर पहुँच रही थी। मेहनत वसूल!

स्वशासन मीटिंग

ए.एस. नील की पुस्तक *समरहिल* पढ़कर हम लोग इसकी दो बातों से बहुत प्रभावित हुए थे। एक तो यह कि इस स्कूल में शिक्षक तो प्रतिदिन एक निश्चित टाइम टेबल के हिसाब से क्लास लगाते थे लेकिन बच्चे अपनी मर्ज़ी से ही क्लास में जाते थे। बच्चों को क्लास में जाना अनिवार्य नहीं था। दूसरी बात इनकी मीटिंग्स, जिनमें स्कूल सम्बन्धित सभी निर्णय वोट

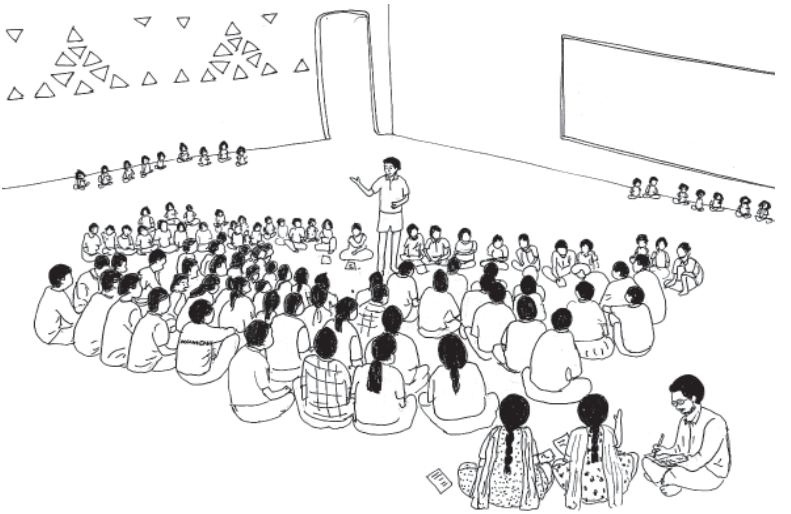

द्वारा लिए जाते थे। मीटिंग में बच्चे-बड़े, सबका एक-एक वोट होता था और किसी के पास भी वीटो पावर नहीं होता था।

हमने *आधारशिला* में भी ऐसी मीटिंग शुरू कर दी जिसे हम स्वशासन मीटिंग कहते थे। इसमें बच्चे स्कूल सम्बन्धी कोई भी बात कह सकते थे, जैसे खाने में मिर्च ज़्यादा डालना चाहिए, श्रमदान कम समय के लिए करना है आदि। शुरू में हम लोग भी इन मीटिंग में बैठते थे लेकिन फिर हमने जाना बन्द कर दिया। ऐसा इसलिए कि हमें लगा कि हमारी बातों से बच्चों के निर्णय प्रभावित हो जाते हैं। शिक्षकों को भी सख्त हिदायत थी कि वे केवल मीटिंग का ब्यौरा लिखें और पूछे गए सवालों का जवाब दें। यह व्यवस्था बच्चों की बात सुनने के लिए बनाई गई थी तो शिक्षकों को केवल सुनना ही था।

इसमें उनकी माँगें भी होती थीं और शिकायतें भी। मेस सम्बन्धित शिकायतें अधिक होती थीं। शिक्षकों के व्यवहार को लेकर भी बच्चे बोल देते थे। पिछली मीटिंग में किसी बात के लिए माँग की गई हो और वो काम नहीं हुआ हो तो शिक्षकों को डाँट भी सुननी पड़ जाती थी। "दो-तीन मीटिंग से हम बैट माँग रहे हैं लेकिन अभी तक नहीं आया है," ऐसे डायलॉग सुनने को मिलते थे इन मीटिंग में। जब स्कूल के काम अधिक हो जाते थे जैसे खाना बनाना, खेत का खूब सारा काम आदि तब बहुत शिकायतें आती थीं क्योंकि इसका अधिकतर भार बड़े बच्चों पर पड़ता था। इस मीटिंग में मंत्री अपना त्यागपत्र भी दे देते थे। जब शिक्षकों के जवाबों से बच्चे सन्तुष्ट नहीं होते थे तब हमें बुलाया जाता था। बहुत ज़्यादा तना-तनी होने पर हम समझाने और सुलझाने जाते थे।

इस मीटिंग में कई बार हम कुछ विषयों पर बच्चों की राय भी लेते थे। जैसे ड्रेस होनी चाहिए या नहीं, परीक्षा कब हो, छुट्टियाँ कब हों आदि। ड्रेस पर बहुत चर्चा हुई। सबको लग रहा था कि यहाँ भी अन्य स्कूलों की तरह ड्रेस होनी चाहिए लेकिन रिंदू और जमुना ने कहा कि नहीं होनी चाहिए। उनका कहना था कि हमारा तो आदिवासी स्कूल है इसलिए बच्चों को आदिवासी पहनावे में ही रहना चाहिए।

शुरू में हम भी ड्रेस के पक्ष में नहीं थे क्योंकि यूनिफॉर्मिटी हमें अच्छी बात नहीं लगती थी। और यह भी था कि बच्चा जैसे घर में रहता है वैसे ही यहाँ भी रहे। शुरू के बैच के बच्चे घर वाले कपड़ों में ही रहते थे लेकिन बाद के सालों में बच्चे महँगे कपड़े पहनकर आने लगे। तब हमें यूनिफॉर्म का रोल समझ आया और इसे लागू किया गया।

स्वशासन मीटिंग समरहिल जैसी निर्णायक नहीं होती थी। स्कूल कैसे

चलेगा या क्या होगा, क्या नहीं – ये फैसले हम सब शिक्षक ही मिलकर लेते थे। हमारी इच्छा थी कि सभी निर्णयों में बच्चों का पूरा सहभाग हो, केवल सहयोग न रह जाए। लेकिन ऐसा बहुत कम होता था। इसके बावजूद यह बहुत ही लोकप्रिय व्यवस्था थी। इस मीटिंग का सबको इन्तज़ार रहता था और यह घण्टों चलती थी। जब कभी मीटिंग बहुत समय तक न हो पाती तो बच्चे याद दिलाकर इसे करवाते थे। यह आधारशिला की एक अच्छी और प्रभावी प्रथा बन गई थी जो आखिरी सालों तक चलती रही।

आज की ताज़ा खबर

साप्ताहिक अखबार में कृष्णा, अमेज़न, नील और ऑक्टोपस ग्रुप का एक-एक बच्चा रहता था (उम्र 10 से 13 वर्ष के आधार पर)। प्रत्येक शुक्रवार को अखबार बनाया जाता था और शनिवार को सवेरे असेम्बली में या बालसभा में पढ़ा जाता था। धीरे-धीरे बच्चों को अखबार बनाने में मज़ा आने लगा। उसमें क्या खबरें डालनी हैं, यह निर्णय पूरी तरह से बच्चों का होता था। शिक्षकों से पूछने की ज़रूरत नहीं थी, न शिक्षक को कोई सुझाव देने थे। हालाँकि, हमारी नज़र में कभी ऐसा नहीं लाया गया, लेकिन शायद कभी ऐसा होता ही होगा कि शिक्षक ने हस्तक्षेप करके कोई खबर डलवा दी हो या रुकवा दी हो। यह बहुत मज़ेदार बात थी कि बच्चे स्कूल सम्बन्धी और शिक्षकों के व्यवहार सम्बन्धी खबरें भी इसमें डालते थे। मेस तो सबसे लोकप्रिय विषय होता था - रोटियाँ जली बनीं, या कम पड़ गईं, एक ही तरह की सब्ज़ी बनाई जा रही है आदि। शिक्षकों द्वारा बच्चों की पिटाई की खबरें भी छपती रहती थीं। आपसी झगड़ों की भी। अखबार को स्केच पेन से सजाया जाता था।

एक मज़ाक और कोई सुवाच भी बच्चे ढूँढकर लिखते थे। साथ ही, दैनिक अखबार से कोई महत्वपूर्ण खबर लेकर भी डालते थे।

आधारशिला में अँग्रेज़ी ठीक से पढ़ाने वालों की बहुत कमी रहती थी। अधिकतर हम पर ही यह ज़िम्मेदारी आ जाती थी। एक बार अँग्रेज़ी पढ़ाने वाले एक शिक्षक आए। ये शिक्षक आदिवासी थे तो हमें और भी खुशी हुई। अँग्रेज़ी में एम.ए. किया था और बताया था कि प्रतियोगी परीक्षाओं में बैठने वालों के लिए अँग्रेज़ी की कोचिंग करते हैं। वे स्कूल आकर अँग्रेज़ी पढ़ाने लगे। एक बार वे कावेरी ग्रुप की क्लास में पेड़ की एक लकड़ी लेकर गए और बहुत सख्त शिक्षक के अन्दाज़ में क्लास चलाई। बच्चों ने उन शिक्षक से कहा कि *आधारशिला* में शिक्षकों को लकड़ी नहीं लाने देते। उन्होंने बच्चों को चुप करवाया। डाँट भी लगा दी और एकाध बच्चे को

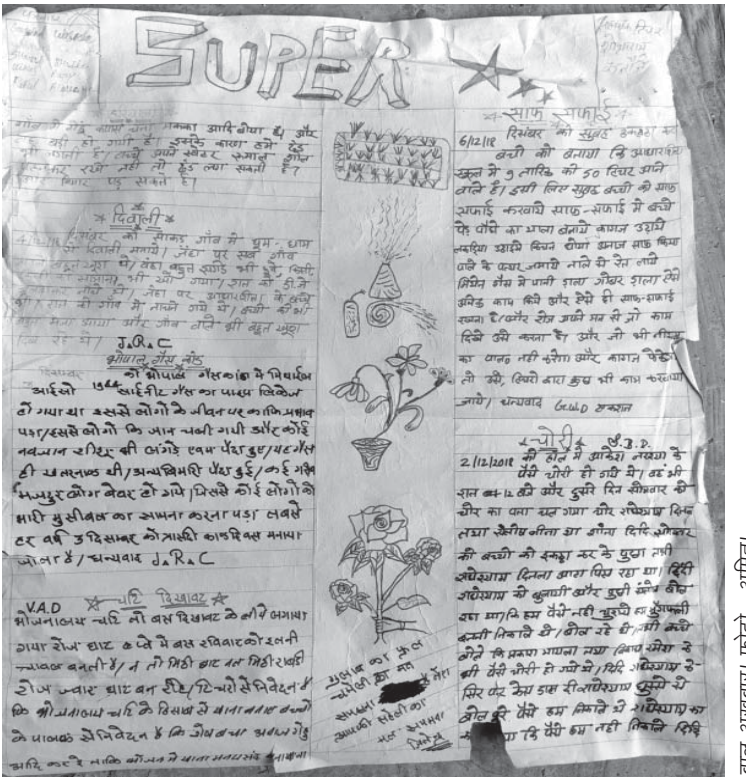

बाल अखबार। फोटो - अमिता।

छड़ी भी पड़ गई। फिर किसी बच्चे ने कहा कि "सर, यहाँ बच्चों को मारने की इजाज़त नहीं है।" उस शिक्षक ने कहा, "इस क्लास में जो मैं चाहूँगा, वही होगा।" फिर बच्चों को कुछ होमवर्क दिया, सख्त हिदायत के साथ कि जो नहीं करके आएगा, उसे दण्ड मिलेगा।

बच्चों ने क्लास से निकलते ही, '*आधारशिला* में डण्डा चल गया' चिल्लाते हुए शोर मचाया और अगली क्लास के लिए चले गए। उस सप्ताह जो अखबार छपा, उसमें यह प्रमुख खबर बन गई। जब नए शिक्षक को यह पता चला तो वे अखबार बनाने वाले बच्चों के पास गए और इस खबर को हटाने के लिए कहा, "शिक्षक के बारे में ऐसे नहीं लिख सकते।" बच्चों ने कहा कि "अखबार में हम जो भी चाहें, लिख सकते हैं। हमें कोई नहीं रोकता।" यह खबर पढ़ी गई। असेम्बली में बच्चे तिरछी नज़रों से शिक्षक को देख रहे थे और मुस्कुरा रहे थे। बाद में उस शिक्षक को *आधारशिला* में नहीं रखा गया। उन्हें भी समझ में आ गया कि यह जगह उनके लायक नहीं है।

अपनी बात कह पाने के साथ-साथ बच्चों का लिखने का भी अच्छा अभ्यास होता था। अधिकतर अखबार बहुत मेहनत से निकाले जाते थे और बच्चे इसमें मन लगाकर काम करते थे। वे पूरा दिन अखबार निकालने में लगे रहते थे।

* * *

बाहर से बहुत-से लोग *आधारशिला* का काम देखने आते थे। *आधारशिला* अपने समय से आगे था। वे कहते कि यहाँ का सिस्टम कुछ समझ में नहीं आता। दो-चार दिन बाद कहते, सिस्टम तो समझ में नहीं आ रहा लेकिन काम तो किसी तरह हो रहा है। बच्चे चुपचाप पढ़ते हुए भी दिखते थे। वही बच्चे खेलते भी थे, काम भी करते थे व मस्ती भी करते रहते थे।

जब एक जगह 100 से अधिक बच्चे हों, और उन बच्चों को आज़ादी देने, वे जो कर रहे हैं उसे करने देने और ज़्यादा टोका-टाकी न करने से निश्चित ही एक कोलाहल और अस्तव्यस्त-सी स्थिति लगती है, खास तौर से बाहर से आने वालों को। एक बार यहाँ एक नया युवा शिक्षक पढ़ाने आया। वह ज़िले के सबसे जाने-माने मॉडल स्कूल से पढ़ा था। कुछ नहीं बोलता था। एक सप्ताह बाद जब उससे टीचर्स-मीटिंग में पूछा कि कैसा लग रहा है तो थोड़ी देर चुप रहने के बाद वह उबल पड़ा, "यह स्कूल है कि ढोर वाड़ा!" सब पुराने लोग हक्का-बक्का रह गए। सबको हँसी भी आई। वह शिक्षक मॉडल स्कूल में कड़े अनुशासन में रहा था। उसने कहा, "वहाँ तो मैंने इतने सालों में शिक्षकों के सामने मुँह भी नहीं खोला। कमीज़ की बाँह का बटन भी टूटा होता था तो डाँट पड़ती थी। और यहाँ तो कोई हिसाब ही नहीं है। शिक्षक के सामने

बच्चे हँस रहे हैं, चिल्ला रहे हैं, लाइन में खड़े ही नहीं हो रहे और कैसे भी कपड़े पहनकर आ जाते हैं क्लास में।" धीरे-धीरे उन्हें यहाँ का रवैया समझ आया और हमने भी कुछ अनुशासन लागू किया। लोकतंत्र काफी अस्तव्यस्त हो सकता है। इसे पचाने के लिए भी खूब सारा धैर्य और मन की ट्रेनिंग ज़रूरी है। जो लोग ऐसे माहौल में पले हों, उनके लिए शायद यह थोड़ा आसान हो।

पालकों को भी यहाँ के तरीके अटपटे लगते थे। कुछ लोग अपने बच्चों को यहाँ से निकाल लेते थे। कुछ अपने आप को समझाते थे कि जो भी हो, पढ़ाई अच्छी है। कई बार हम लोग भी अव्यवस्था से तंग आ जाते थे और कड़क हो जाते थे। हमने देखा कि बच्चों को भी व्यवस्था चाहिए होती है। एक ढाँचे के अन्दर जब उन्हें अपने मन की करने की आज़ादी मिलती है तो सबसे अच्छा होता है। इस सबसे भी स्वशासन की बात हमें बहुत ज़रूरी लगी। कोई देख रहा है इसलिए अपना काम करना है, यह सही नहीं है। हमें अपने काम खुद ही करते रहना है क्योंकि वे ज़रूरी हैं। यह बात बच्चों को भी पढ़ाई के सम्बन्ध में समझ आ गई थी। बिना शिक्षक के बच्चों को पढ़ता देख, लोग बहुत आश्चर्य करते थे। बच्चे स्वतंत्र हैं, यह भी सबको समझ में आता था। लोकतंत्र में स्वशासन बहुत ज़रूरी है। काफी हद तक बच्चों में अपने आप पढ़ने की आदत बन जाती थी, खास तौर से जब पूरे स्कूल में ऐसा माहौल हो।

जनसहयोग से खड़ा हुआ सपना

आधारशिला के बनने की कहानी भी एक अद्भुत सामूहिक प्रयास की कहानी है। जनता के संस्थानों को बनाने में रुचि रखने वालों के लिए यह जानना बहुत ज़रूरी है। अलीराजपुर में हमारे जन संगठन के काम का एक मूल मंत्र यह था कि जो कुछ भी होना है, वह लोगों की ताकत और सहयोग के बल पर ही होना है। आर्थिक सहयोग भी लोगों से ही आना है। इसके बावजूद कि अलीराजपुर ज़िले के लोगों की गिनती देश के सबसे गरीब लोगों में होती थी, सभी रैलियों आदि में लोग चन्दा करते थे – चार आने, एक रुपया, मुर्गी बेचकर बस किराया भरते थे। बैनर आदि का खर्च सब लोगों के चन्दे से निकलता था। दूर की रैलियों में हम छः-छः घण्टे ट्रकों में खड़े होकर जाते थे। ट्रक मालिक का फटे दस-दस के नोटों और चिल्लरों से हज़ारों रुपयों का पेमेंट होता था। यह सब बताने का अर्थ यह है कि लोगों के काम उनके स्वयं के पैसे और श्रम से ही होने चाहिएँ, यह बात हम दोनों में कूट-कूटकर भरी थी (उस समय)।

हमारा आग्रह था कि *आधारशिला* स्थानीय समाज का स्कूल हो। इसके

लिए ज़रूरी था कि इसके बनने की पूरी प्रक्रिया भी लोगों के साथ मिलकर और उनके द्वारा ही हो। *आधारशिला* की कल्पना, एक शोषणमुक्त समाज बनाने व उनकी ज़िन्दगियों को बेहतर करने के आदिवासियों के संघर्षों से अन्तरंग रूप से जुड़ी हुई थी। अलग से इसका कोई महत्व नहीं था। इस काम को सेंधवा में कार्यरत आदिवासी मुक्ति संगठन के साथ मिलकर सोचा और शुरू किया गया था।

ज़मीन ढूँढने से लेकर स्कूल के हॉल, रसोई, हमारा घर बनाने के लिए ईंट, लोहा, छत के लिए चद्दर, दरवाज़े-खिड़की – सारा सामान आदिवासी मुक्ति संगठन ने सक्षम लोगों से चन्दा लेकर इकट्ठा किया था। संगठन ने कुसमिया गाँव के वरिष्ठ कार्यकर्ता, खूमसिंह भाई को निर्माण कार्य देखने के लिए तैनात किया। वे स्कूल बनने तक पूरे समय यहाँ पर डटे रहे। घरों की जुड़ाई मिट्टी से की गई। सीमेंट केवल खम्बों में लगाई गई। मिस्त्री भी श्रमदान करने आए। मिस्त्री की मदद और नींव खोदने आदि कामों के लिए संगठन के गाँवों से बारी-बारी से लोग आते रहे। पूरे इलाके में यह बात फैल गई थी कि साकड़ में मुक्ति संगठन का स्कूल बन रहा है। साकड़ गाँव के लोगों ने बहुत सहयोग किया। रात-रात तक साकड़ के लोगों को इकट्ठा करके नींव खोदी गई। बहुत-से लोगों ने यहाँ आकर श्रमदान किया।

लोकतांत्रिक स्कूल की चर्चा में यह सब बताना इसलिए ज़रूरी समझा क्योंकि इससे फिर एक बार इस विचार की पुष्टि हुई कि लोग यदि ठान लें तो अपने लिए स्कूल जैसे खुद के संस्थान खड़े कर सकते हैं। यह बहुत ताकत देने वाली बात थी क्योंकि इसकी चर्चा जब हमने मित्रों से की थी तो सभी ने यह

सुझाया था कि ऐसे कामों के लिए तो संस्थागत फण्ड लाना पड़ेगा। लेकिन अलीराजपुर में खेड़ुत मज़दूर चेतना संगठ के काम ने हमें यह दृढ़ विश्वास दिलाया था कि लोगों की ताकत से बड़े-बड़े संघर्ष किए जा सकते हैं।

केवल स्कूल बनना ही नहीं, *आधारशिला शिक्षण केन्द्र* 22 सालों तक किसी भी प्रकार की संस्थागत फण्डिंग के बिना चला। यह एक आवासीय स्कूल था जहाँ डेढ़ सौ से अधिक बच्चे रहते थे। पालक अनाज, दाल व कुछ फीस देते थे। गाँव से, मित्रों से चन्दा इकट्ठा किया जाता था। बच्चों द्वारा बनाई गईं कलाकृतियाँ बेचकर, नाटक दिखाकर भी कुछ राशि जमा होती थी। खेत में सब्ज़ियाँ उगाई जाती थीं। डेढ़ सौ बच्चों का मेस चलाने के लिए सब्ज़ी उगाने के लिए इस बंजर ज़मीन को उपजाऊ बनाने की तो अलग ही कहानी है!

***

लोकतंत्र खतरे में है - आजकल यह बात हम बहुत सुनते हैं। राजनैतिक स्तर पर एक प्रतिनिधि चुनने के लिए चुनाव व्यवस्था की गई जिसे हम लोकतंत्र कहते हैं। हम दुनिया के सबसे बड़े लोकतंत्र हैं - यह वाक्य हम आदतन कहते हैं और इसमें थोड़ा गर्व महसूस करते भी हैं क्योंकि हमने अनायास यह सीखा है कि हर बड़ी, सबसे बड़ी चीज़ अच्छी ही होगी। असल में, आम जनता कभी लोकतंत्र की बात नहीं करती। केवल कुछ सामाजिक कार्यकर्ता ही इस शब्द का प्रयोग करते हैं। पिछले कुछ सालों में मीडिया में और विपक्ष के राजनेताओं के भाषण में भी यह शब्द सुनाई देने लगा है।

डॉ. अम्बेडकर ने संविधान के सन्दर्भ में अपने एक भाषण में कहा था कि राजनैतिक लोकतंत्र तो हमने संविधान में लिखकर और उसके लिए कुछ व्यवस्थाएँ बनाकर हासिल कर लिया लेकिन जब तक समाज में लोकतंत्र स्थापित नहीं होगा तब तक राजनैतिक लोकतंत्र सफल नहीं होगा। *आधारशिला* के पाठ्यक्रम के बारे में सोचते समय यह बात मन में थी कि यदि देश में लोकतंत्र कारगर तरीके से चलना है तो लोगों को बचपन से लोकतंत्र का अनुभव होना तो लाज़मी है न। हमारा समाज ऐसा है जिसमें अधिकांश पारम्परिक परिवारों में लोकतंत्र मौजूद नहीं होता। बिलकुल स्पष्ट होता है कि घर का मुखिया परिवार का कोई वरिष्ठ पुरुष ही होता है, जिसकी घर में सबसे ज़्यादा चलती है। और हमें बचपन से संस्कारित किया जाता है कि बड़ों की बात माननी चाहिए। इसलिए यह बुरा भी नहीं लगता लोगों को। एक परिवार में भाइयों, पत्नियों, महिलाओं, बच्चों - सबको अपनी भूमिका पता रहती है। इस भूमिका को अच्छे से निभाने पर ही परिवार और समाज में आपकी पीठ ठोंकी जाती है।

जो लोग गाँव में रहते हैं, उन्होंने भी अपने जीवन के अनुभव से यही बात आत्मसात की कि गाँव के पटेल, सरपंच आदि प्रमुख लोगों की ही बात गाँव में चलती है। या जो सरकार के निचले स्तर के नुमाइन्दे हैं, उनके हाथ में ही सारे काम और ताकत रहते हैं। इन लोगों को नाराज़ करने से अपने पर बुरे असर पड़ते हैं। नियम-कानून की कोई खास भूमिका दिखाई नहीं देती। वैसे भी स्कूलों में जिस तरह से हमें इतिहास पढ़ाया जाता रहा है, उससे भी अधिकतर लोगों के मन में जो सर्वोत्तम राजनैतिक व्यवस्था की कल्पना है, वह एक अच्छे दयालु राजा की है।

यह सब कहने का अर्थ यही है कि अपने देश की आम जनता को लोकतंत्र का न तो कोई अनुभव होता है और न ही इसके प्रति कोई भाव है जिससे यह उन्हें ज़रूरी लगे।

स्कूल में भी बच्चा शिक्षक, पाठ्यक्रम, प्रिंसिपल की सीढ़ी में सबसे नीचे के पायदान पर होता है। स्कूल-कॉलेज के पूरे अनुभव में बच्चे से कभी नहीं पूछा जाता कि वो क्या सीखना या करना चाहता है। काम की जगह पर भी बॉस से लेकर सबसे कम तनख्वाह वाले कर्मचारी तक, एक स्पष्ट ऊँच-नीच की सीढ़ी होती है। परिवार, समाज, स्कूल, कार्यस्थल, राजनैतिक व्यवस्था और पार्टी को देखने पर भी लोकतंत्र कहीं से भी समझ में नहीं आता। लड़कियों को तो सिखाया ही जाता है कि उन्हें पिता, भाई, पति और बाद में बेटे की बात सुनना है।

ऐसे में, शिक्षा संस्थान क्या एक ऐसी जगह हो सकती है जहाँ बच्चों

को लोकतंत्र का अनुभव दिया जा सकता हो? इसी प्रश्न को लेकर *आधारशिला* में बच्चों को लोकतांत्रिक मूल्यों का एहसास दिलवाने के लिए ये सब काम किए गए।

अमित और जयश्री: लगभग तीन दशकों से पश्चिम मध्य प्रदेश में भील, भीलाला और बारेला आदिवासियों के बीच में रह रहे हैं। साथ ही, खेड़ूत मज़दूर चेतना संगठ, नर्मदा बचाओ आन्दोलन व पश्चिम भारत प्रवासी मज़दूर संघ के साथ-साथ आदिवासियों के अन्य संघर्षों के साथ भी खड़े हैं। 1998 से आदिवासी बच्चों व युवाओं की शिक्षा के लिए काम कर रहे हैं।

सभी चित्र: भाग्यश्री: प्रकृति प्रेमी, शिक्षा कर्मी, स्वतंत्र चित्रकार और फोटोग्राफर हैं। रियाज़ अकैडमी ऑफ इलस्ट्रेटर्स, भोपाल से इलस्ट्रेशन का कोर्स किया है। *एकलव्य* संस्था में कुछ वर्षों तक काम करने के बाद, वे इन दिनों अज़ीम प्रेमजी फाउंडेशन, खरगोन, मप्र में रिसोर्स पर्सन के रूप में कार्यरत हैं। उनकी कला और काम, बच्चों की कल्पनाओं से प्रेरित हैं और ज़मीन से जुड़ी कहानियाँ कहने की कोशिश करते हैं।

झगड़ी

कुएँ में गिरी बाल्टी को निकालने की जुगत

संजय कुमार तिवारी

कुछ दशक पहले तक गाँव के कुएँ के पास कभी एक अलग ही दुनिया बसती थी – कुएँ की गोलाकार पाल, पानी भरने आईं गपशप करती मुहल्ले की महिलाएँ, बाल्टी-बर्तनों की खनक और कुएँ में पानी से टकराती बाल्टी की छपाक की ध्वनि। सार्वजनिक कुआँ केवल जल का स्रोत नहीं था, बल्कि गाँव की महिलाओं के आपसी संवाद, समाचार आदान-प्रदान और सामाजिक मेल-जोल का केन्द्र भी था। अमूमन, घर के लिए पानी लाने की ज़िम्मेदारी मुख्यतः महिलाओं पर होती थी, जिससे उनका सामाजिक नेटवर्क मज़बूत होता था।

चित्र-1: झगड़ी

अब यदि किसी कुएँ पर पानी भरते समय बाल्टी से बँधी रस्सी खुल जाए या रस्सी टूट जाए तो क्या होगा? लोककथाओं के कोई देव आकर तो बाल्टी निकालकर देने नहीं वाले हैं। अब या तो कोई इन्सान कुएँ में उतरकर बाल्टी निकालने का साहसी कदम उठाए या कोई हुक या ऐसी ही किसी जुगाड़ का बाल्टी को बाहर निकालने में इस्तेमाल किया जा सकता है।

इसी हुकनुमा जुगाड़ को कुछ इलाकों में 'झगड़ी•' नाम से पुकारते

• *'झगड़ी' अलग-अलग इलाकों में अलग-अलग नामों से जाना जाता है, जैसे - काँटा (छत्तीसगढ़), बिलइया (राजस्थान), मांजरी (निमाड़ क्षेत्र, मप्र), झग्गर (झारखण्ड)।*

हैं। जब कभी बाल्टी कुएँ में गिर जाने की घटना घटित होती, तुरन्त गाँव में उपलब्ध झगड़ी को रस्सी से बाँधकर कुएँ में डाला जाता और बाल्टी को नथने की कोशिश की जाती। कई बार बाल्टी जल्द ही नथ (अटक या फँस) जाती और बाल्टी को ऊपर खींचना आसानी-से सध जाता। कभी-कभी थोड़ा वक्त भी लगता। अक्सर अनुभवी लोग झगड़ी को ऊपर-नीचे करके, उसके वज़न में आए बदलाव को भाँपकर बाल्टी को नथने का अन्दाज़ा लगा लेते हैं।

झगड़ी, दरअसल, लोहे का साधारण-सा दिखने वाला औज़ार है जिसे गाँव का लुहार ही बना देता है। आम तौर पर लुहार पीढ़ी-दर-पीढ़ी अपने इस हुनर को अगली पीढ़ी को सिखाता रहता है। इसकी वजह से भारत के अलग-अलग इलाकों के ग्रामीण अंचलों में अलग-अलग आकार और प्रकार की झगड़ी दिखाई दे जाएँगी। इस प्रक्रिया में कई बार नवाचार भी होते रहते हैं। कुल मिलाकर, झगड़ी सिर्फ एक उपकरण ही नहीं है बल्कि इसमें लुहारी का हुनर, तकनीक और बाल्टी को निकालने का कौशल – सभी कुछ शामिल है। और जब बाल्टी को निकालने में कामयाबी मिल जाती है तो दर्शकों की खुशी की चीखें.... उनके बारे में जितना कहा जाए, कम ही होगा।

सामाजिक दृष्टिकोण से, झगड़ी केवल एक उपकरण नहीं थी, बल्कि आपसी सहयोग और मदद का प्रतीक थी। यह हर घर में उपलब्ध नहीं होती थी, इसलिए जिनके पास होती, वे इसे ज़रूरत पड़ने पर उपलब्ध करवा देते थे। हालाँकि, सामाजिक या व्यक्तिगत मतभेदों के कारण कभी-कभी इसे प्राप्त करना मुश्किल भी हो जाता था। झगड़ी माँगना और देना उस समय की सामाजिक परम्पराओं, विश्वास और आपसी रिश्तों का आईना था।

आपने एक कहावत तो सुनी ही होगी - आवश्यकता आविष्कार की जननी है। झगड़ी इसका जीवन्त उदाहरण थी। यह गाँव के जीवन में छोटी-सी, लेकिन अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका निभाती थी। बढ़ते शहरीकरण, सार्वजनिक पेयजल वितरण सिस्टम, हैंडपम्प, जेटपम्प आदि के चलते पारम्परिक कुएँ हमारे जीवन से काफी दूर चले गए हैं। इसलिए स्वाभाविक है कि बाल्टी का कुएँ में गिरने का सिलसिला भी बन्द हो गया है और झगड़ी भी धीरे-धीरे विलुप्ति की कगार पर खड़ी है।

संजय कुमार तिवारी: सन् 1995 से 2007 तक *एकलव्य* के सामाजिक अध्ययन कार्यक्रम के साथ जुड़कर काम किया। वर्तमान में अज़ीम प्रेमजी फाउंडेशन, रायपुर, छत्तीसगढ़ में कार्यरत हैं।

बच्चों ने तैयार किया अपने गाँव का इतिहास!

प्रकाश कान्त

चित्र-1: *कक्षा छठवीं के इतिहास खण्ड के पाठ 'गाँवों का बसना' का एक चित्र।*

इतिहास के ही एक पाठ में बच्चों को एक काम करने को दिया गया था। उन्हें अपने आसपास पूछकर, उन परिवारों का पता लगाना था जो मूल रूप से उसी गाँव के निवासी थे। उन्होंने यह तो पता कर लिया लेकिन फिर मुझे लगा कि इस तरह के कुछ और सवालों के ज़रिए मानकुण्ड गाँव का छोटा-मोटा इतिहास तैयार हो सकता है। तब बच्चों ने समूहों में एवं अलग-अलग कुछ और प्रश्नों पर काम किया। जैसे, गाँव का नाम मानकुण्ड क्यों पड़ा? क्या गाँव शुरू से उसी जगह पर था जहाँ अभी है, या इधर-उधर बसा हुआ था? गाँव के सबसे पुराने परिवार कौन-कौन से हैं? ऐसे कौन-से परिवार हैं जो गाँव छोड़कर बाहर जाकर बस गए हैं? गाँव में हाट कब से लगने लगा? गाँव में सबसे पहला ट्रैक्टर किसके यहाँ आया? गाँव में बिजली कब आई? गाँव में पंचायत कब बनी? गाँव के मन्दिरों में से सबसे पुराना मन्दिर कौन-सा है? पंचायत का सबसे पहला सरपंच कौन था?

स्थानीय इतिहास पता करना

इस तरह के और भी बहुत सारे सवाल थे जिनके उत्तर बच्चों को अपने घर-पड़ोस में पूछकर तैयार

करने थे। इस तरह के कुछ सवालों के जवाब पता करने की बात पाठ में भी की गई थी। बच्चों ने इन प्रश्नों के जवाब ढूँढने में काफी मेहनत की। बाद में कक्षा में इन पर सामूहिक चर्चा कर प्रामाणिक या अधिकतम सम्भव प्रामाणिक उत्तर तैयार किए गए। कुछ ऐसे भी उत्तर थे जिन्हें लेकर बच्चे एकमत नहीं थे। उनमें ही मतभेद थे। इस मामले में मैं खुद उनकी कोई मदद नहीं कर सकता था क्योंकि मैं बाहर का आदमी था। ऐसे में स्कूल के भृत्य मानसिंहजी की मदद लेनी पड़ी। थोड़ी मदद प्रधान अध्यापक मुकातीजी ने की। वे भी उसी गाँव के स्थाई निवासी थे। इन सबके कारण अन्ततः काफी हद तक प्रामाणिक जबाव तैयार हो गए। इनमें से कुछ तो काफी दिलचस्प थे। जानकारीवर्धक भी! जैसे, मानकुण्ड गाँव अभी जहाँ है पहले वहाँ नहीं था, बल्कि थोड़ा-सा नदी की तरफ था। या यह कि गाँव में पहले एक कुण्ड था। लोग वहाँ 'मान' उतारने आते थे। इसलिए गाँव का नाम 'मानकुण्ड' पड़ा। वगैरह!

एक बच्चे से, जिसकी लिखावट ज़्यादा साफ थी, इन प्रश्नोत्तरों को अच्छे से लिखवा लिया गया। और इस तरह गाँव का इतिहास तैयार हो गया। मेरी योजना इस इतिहास की साइक्लोस्टाइल प्रतियाँ तैयार कर, प्रत्येक बच्चे को एक-एक प्रति उपलब्ध करवा देने की थी। इसकी मैंने कक्षा में घोषणा भी कर दी थी। बच्चे अपने तैयार किए इतिहास को पुस्तिका के रूप में देखने के लिए काफी उत्साहित थे। लेकिन कुछ मेरी लापरवाही और कुछ विभागीय कामों का बोझ, इन सब में वह काम रह ही गया। क्लास के बच्चे बार-बार पूछते रहे कि उनका तैयार किया गया इतिहास कब छपेगा। मैं लगातार आश्वासन देता रहा। सोचता भी रहा कि बस, अब तो कर ही लूँगा। लेकिन नहीं कर पाया। आखिरकार, जिन बच्चों ने वह इतिहास तैयार किया था वे आठवीं क्लास पास करके स्कूल से विदा भी हो गए। वह पुस्तिका कभी

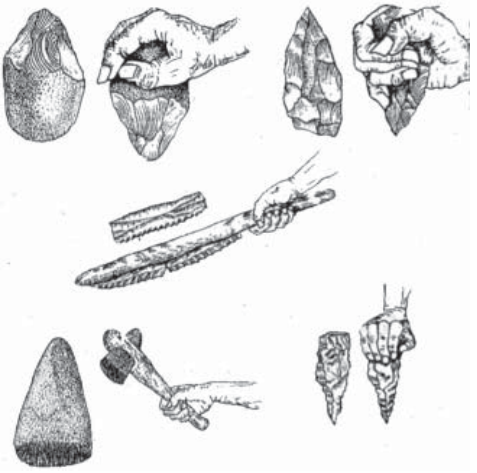

चित्र-2: *पत्थर के औज़ार और हथियार। रोमिला थापर की किताब 'प्राचीन भारत का इतिहास' से साभार।*

चित्र-3: *कक्षा छठवीं के इतिहास खण्ड के पाठ 'शिकारी मानव' का एक चित्र।*

साइक्लोस्टाइल नहीं हो पाई। इससे भी ज़्यादा बुरा यह हुआ कि वह हस्तलिखित पाण्डुलिपि अपने साथ लिए-लिए घूमने में मुझसे कहीं खो गई! मैं अपनी ही नज़र में बच्चों का हमेशा के लिए अपराधी बन गया।

इस सामाजिक अध्ययन का इतिहास भी शिकारी मानव से शुरू होता था। लेकिन पाठ इस तरह से तैयार किए गए थे कि बच्चे उतने पुराने समय से अपना जुड़ाव महसूस कर सकें। साथ ही, वे यह भी जान पाएँ कि शुरू के मनुष्य का जीवन कितना संघर्षपूर्ण था – हिंसक जानवरों से बचाव और अपने लिए भोजन-पानी का इन्तज़ाम – दोनों स्तरों पर संघर्ष! इस सिलसिले में जब मैंने पत्थर के औज़ार और हथियारों का ज़िक्र किया तो उन्हें यकीन नहीं हुआ कि आखिर पत्थर के उन मामूली हथियार और औज़ारों से जंगली जानवरों का मुकाबला कैसे किया जाता होगा! लेकिन, जब उन्होंने पाया कि आज भी लड़ाई-झगड़ों में पत्थरों का इस्तेमाल होता है और इमली, जामुन, आम जैसे फल पत्थर मारकर ही तोड़े जाते हैं तब उन्हें कुछ-कुछ भरोसा होने लगा। दो-एक बच्चे पाठ में दिए गए पत्थर के औज़ार और हथियारों की तरह दिखते पत्थर ले आए। इसी सिलसिले में वे जान पाए कि साथ मिलकर रहना उस समय कितना ज़रूरी और फायदेमन्द था।

बच्चों ने इतिहास के पाठों को लेकर और भी कई अभ्यास किए। उन्होंने शिकारी मानव के पत्थर के औज़ार एवं हथियारों के चित्र देखे और वे उस तरह दिखने वाले पत्थरों के टुकड़े जब ले आए तब मुझे लगा

कि उनके इस प्रयास को नज़रअन्दाज़ नहीं किया जाना चाहिए। सो, मैं उनकी लाई सामग्री को आधार बनाकर शिकारी मनुष्य के सामने मौजूद सम्भावित समस्याओं पर चर्चा करने लगा।

इतिहास के विभिन्न आयाम

इन पाठों के साथ एक खास बात यह थी कि जो बातें मुझे ठीक से समझा पाना मुश्किल लग रही थीं, उन्हें बच्चों ने आसानी-से मान लिया। उन्हें लेकर उनके भीतर ज़्यादा खलबली नहीं मची जबकि मुझे लग रहा था कि काफी सवाल-जवाब पूछे जाएँगे। और शोर-शराबा होगा। ऐतिहासिक रूप से नगरों का विकास ऐसा ही एक मुद्दा था। लेकिन शायद अपने आसपास के शहर देखते रहने के कारण उन्हें ज़्यादा उलझाव महसूस नहीं हुआ। वे यह भी समझ गए कि पुराने समय के नगर या शहर आज के शहरों से कई मायनों में अलग थे। इस प्रसंग में यह भी चर्चा हुई कि तब के शहरों में आज जैसी कौन-कौन-सी चीज़ें नहीं रही होंगी! कुछ सामान्य चीज़ें तो सभी ने बताईं, जैसे बिजली, बस, मोटर साइकिल, हैण्डपम्प! साथ ही, तब के बाज़ार और दुकानों के फर्क भी उन्होंने बताए!

बच्चों ने इतिहास के पाठों में दिए नक्शों को भारत के राजनैतिक नक्शे के साथ रखकर बहुत सारी चीज़ें पता कीं। जैसे कि अगर नक्शे में पुराने जनपद दिए गए तो उन्होंने पता किया कि वे आज के भारत के किन-किन प्रान्तों में थे। या अजातशत्रु

चित्र-4: *कक्षा छठवीं के नागरिक शास्त्र खण्ड के पाठ 'हाट बाज़ार और मण्डी' का एक चित्र।*

का साम्राज्य भारत के किस प्रान्त में था। और यह भी कि आज से ढाई हज़ार साल पहले जो शहर थे, उनमें से कौन-कौन से शहर आज भी आसानी-से पहचाने जा सकते हैं। इसी तरह, उन्होंने पुराने समय के वैश्विक व्यापार को समझने के लिए एशिया और विश्व के नक्शे को टटोला।

उनका यह सब करना और इस दौरान आपस में ज़ोर-ज़ोर से बातचीते करना ही नहीं बल्कि झगड़ना भी कक्षा को खास तरह से जीवन्त बना देता था। एक खास तरह की उत्तेजना और विस्फोटक उत्साह! इस सब में अगर मैं उनसे कोई सवाल पूछ लेता और उसका जवाब उन्हें उस समय याद नहीं आ रहा होता तो उनकी तरफ से दनदनाता सामूहिक वाक्य आता, "हमारे नी मालम! तम बताओ।" (हमें नहीं पता! आप बताइए।) एक शिक्षक को इन सब में किस तरह की रचनात्मक खुशी हो सकती है, मैं बच्चों को यह सब करते हुए देखकर ही महसूस कर पा रहा था। मैं दूसरों के बारे में तो नहीं जानता लेकिन अपने तईं ज़रूर कह सकता हूँ कि पढ़ने-पढ़ाने की खास तरह की रचनात्मक खुशी एक शिक्षक को शायद ऐसी जीवन्त कक्षाओं में ही हासिल हो पाती है। यह उसे अपने काम को और बेहतर बनाने में मदद करती है। बच्चों को यह सब करते देख मुझे बहुत कुछ सीखने को मिला। दोबारा छात्र बनने और बने रहने का सिलसिला! इस सब में पीरियड कब खत्म हो जाता, पता ही नहीं चलता।

खेती, पशुपालन, गाँव का बसना जैसे पाठ बच्चों के लिए एक तरह से परिचित संसार का हिस्सा थे क्योंकि वे भी गाँव में ही रहते थे। इसलिए शायद उन सब से तार जल्दी जुड़ गए। यह मेरा सामान्य अनुभव था कि बच्चे अपने परिचित संसार के आसपास की या जुड़ी हुई चीज़ों से जल्दी जुड़ते हैं। मेरी कक्षा के अधिकांश बच्चों के पास खेती का अपना अनुभव था। उनके पास भी, जिनकी स्वयं की कृषि भूमि नहीं थी परन्तु उनके परिवार के लोग कृषि मज़दूरी करते थे। बच्चे खेती के बारे में सिलसिलेवार सब कुछ जानते थे। हर तरह की फसल के बारे में - लड़कियाँ तक! क्योंकि वे भी खेती-किसानी के कामों में अपने परिवार के साथ शामिल रहा करती थीं। सो, खेती-किसानी का अनुभव बच्चों का अपना जिया हुआ अनुभव-संसार था।

इसके उलट, मेरे पास सिर्फ मोटी-मोटी जानकारियाँ थीं, अनुभव नहीं! खेती-किसानी, फसल बिगड़ने-सुधरने वगैरह के बारे में उन्हें ज़्यादा और सही पता होता था। मेरे पास इस बारे में जो कुछ होता था, वह सिर्फ सुना-सुनाया था। इसीलिए पढ़ाते समय या कक्षा में अनौपचारिक बातचीत के दौरान गलत जानकारी दे देता तो

बच्चे तुरन्त टोक देते। "ये ल्लो, तमारे इत्तो बी नी मालम!" कोई एक धीमा स्वर उभरता। हल्की-सी सामूहिक हँसी के बीच! मुझे अपनी बात ठीक करनी पड़ती। वैसे मेरे स्कूल के अधिकांश शिक्षक किसान थे। लगभग सभी के घर खेती थी। उनकी आपसी बातचीत का एक बड़ा हिस्सा खेती ही होता था। मैं खेती के बारे में जो थोड़ा-बहुत जानता था, वह सब उन्हीं की बातों के आधार पर। इसके अलावा खेती-किसानी से मेरा लगाव यथार्थवादी न होकर बहुत कुछ रोमांटिक किस्म का था। लगभग फिल्मी टाइप का! जबकि बच्चे इस मामले में मज़बूत ज़मीन पर खड़े थे और मुझसे कई गुना ज़्यादा जानते थे। आज की खेती की मुश्किलों के बारे में भी। इसके बावजूद, उन्होंने जब खेती की शुरुआत के बारे में पढ़ा तब थोड़े-से चौंके! उनके लिए एकदम से भरोसा कर पाना आसान नहीं रहा कि मनुष्य ने खेती करना इतनी लम्बी प्रक्रिया में सीखा होगा! इतनी मुश्किलों से!

लिपि और भाषा के तिलिस्म

इतिहास के पाठों में कहीं-कहीं पुरानी लिपि और भाषाओं का ज़िक्र आया था। यह मेरे लिए इतिहास जानने के अत्यन्त महत्वपूर्ण माध्यम पर बात करने का खास मौका था। मैं इसके पहले बच्चों को इतना तो बता ही चुका था कि आजकल हम जो भाषाएँ बोलते-सुनते हैं, उनमें से ज़्यादातर हज़ार-सवा हज़ार साल इधर की हैं। उसके पहले अन्य भाषाएँ बोली जाती थीं और उनकी लिखाई भी अलग तरह की थी। आज भी दुनिया में सैकड़ों लिपियाँ और हज़ारों भाषाएँ प्रचलित हैं। सिन्धु घाटी की लिखाई या लिपि वाले प्रसंग में उन्हें यह जानकर हैरानी भी हुई और अविश्वास भी कि उस समय की लिपि को मैं, यानी कि उनके शिक्षक भी पढ़ नहीं सकते! यह शिक्षक के सर्वज्ञ होने की छवि का ध्वंस था। शिक्षक के ज्ञान की सीमाओं की घोषणा!

बहरहाल, इसी के साथ उन्होंने यह भी जाना कि लिखित सामग्री को पढ़ने-समझने के पहले उस लिपि को पढ़ना आना ज़रूरी है जिसमें वह सामग्री लिखी है। उसके बाद उस भाषा को जानना! ज़रूरी नहीं कि लिपि पढ़ लेने से भाषा भी समझ में आ ही जाए। एक लिपि में कई भाषाएँ और एक भाषा कई लिपियों में लिखी जा सकती है, यह बात उन्हें देर से समझ में आई। काफी मशक्कत के बाद! हालाँकि, यह समझने में उन्हें ज़्यादा दिक्कत नहीं हुई कि मनुष्य ने भाषा पहले सीखी, उसे लिखना बाद में! यह बात समझ पाना उनके घर के बच्चों के उदाहरण के ज़रिए आसान रहा। यह बात तो खैर उन्होंने खुद ही मान ली कि उनके साथ भी यही हुआ था। वे भी इसी तरह से सीखे हैं।

चित्र-5: *कक्षा छठवीं के इतिहास खण्ड के पाठ 'राजा अशोक' में दिया गया अशोक के शिलालेख का एक चित्र।*

सिन्धु घाटी की लिखाई को अभी तक न पढ़े जा सकने की समस्या को मैंने कई तरह से स्पष्ट करने की कोशिश की। इस वजह से मेरे लिए कुछ और लिपियों की चर्चा करने की गुंजाइश भी निकल आई। बच्चे जान पाए कि देवनागरी और रोमन (जिनमें उनकी किताबों की संस्कृत, हिन्दी और अँग्रेज़ी की पुस्तकें लिखी गई हैं) के अलावा भी कई लिपियाँ हैं, जिन्हें पढ़ने के लिए पर्याप्त अभ्यास की ज़रूरत होती है। कुछ लिपियाँ अगर बाएँ से दाएँ लिखी जाती हैं तो कुछ दाएँ से बाएँ! कुछ ऊपर से नीचे! लिपियों के फर्क को समझाने के लिए छठी कक्षा के इतिहास खण्ड में छपे 'अशोक के शिलालेख' के चित्र का इस्तेमाल किया गया। नोटों पर अलग-अलग भाषाओं में छपे नोटों के मान की बात की। बच्चों के लिए यह काफी रोचक रहा। रोमांचक भी!

प्रकाश कान्त: हिन्दी से एम.ए. और रांगेय राघव के उपन्यासों पर पीएच.डी. की है। शीर्ष पत्र-पत्रिकाओं में कहानियाँ एवं आलेख प्रकाशित। चार उपन्यास – अब और नहीं, मक्तल, अधूरे सूर्यों के सत्य, ये दाग-दाग उजाला; कार्ल मार्क्स के जीवन एवं विचारों पर एक पुस्तक; तीन कहानी संग्रह – शहर की आखिरी चिड़िया, टोकनी भर दुनिया, अपने हिस्से का आकाश, संस्मरण – एक शहर देवास, कवि नईम और मैं, और फिल्म पर एक पुस्तक – हिंदी सिनेमा: सार्थकता की तलाश प्रकाशित हो चुकी हैं। लगभग 30 वर्षों तक ग्रामीण शालाओं में अध्यापन।

सभी चित्र: *एकलव्य* द्वारा विकसित सामाजिक अध्ययन, म.प्र. पाठ्यपुस्तक निगम से साभार।

यह लेख *एकलव्य* द्वारा प्रकाशित पुस्तक *सामाजिक अध्ययन नवाचार* से साभार।

Nature-Society Series

WEST BENGAL

Author: YEMUNA SUNNY

Price: ₹ 100/-

A collection of innovative maps by Yemuna Sunny, critical geographer and teacher, this series is an asset to geography classrooms, libraries, and teacher educational institutions, among others. Using beautiful, distinct icons, these maps clearly mark the physical spaces while conveying the type of human interactions with nature in each of them. The accompanying booklets provide information on the regions including their history, geographical features, environment, people, and intersections of each of these.

Practising and aspiring teachers, educators, learners of all ages, geographers, ecologists, and especially you, our dear reader, would enjoy learning about West Bengal's unique ecology through this edition. It's a promise.

---

eklavya

To place the order-
EKLAVYA FOUNDATION
Jamnalal Bajaj Parisar, Jatkhedi, Bhopal,
Madhya Pradesh, 462026, India.
Phone: +91 755 297 7770-71-72
Website: www.eklavya.in | Email: pitara@eklavya.in

मंतोड़ा

आजकल के लड़कामन

श्रेया खेमानी

चंदा के शरीर में एक नई थकान नज़र आ रही थी। उसकी उम्र से ज़्यादा।

"क्या हुआ?" मैंने पूछा।

"कुछ नहीं।"

"सतीश?" मैंने मुस्कराते हुए पूछा। "या गोलू?"

"का बोल्हूँ दीदी? रोज़ यहीच होथे आजकल। बहुत बत्तमीज हो गे हे ओमन ह... गोलू त पाँच दिन में एक बार स्कूल आथे, बाकी समय दारू-भट्टी के बगल में या मन्दिर के सीढ़ी पे बैठे रथे। जब मैं स्कूल आथौं त मोर ऊपर कुछ-न-कुछ कमेंट भी करथे। अच्छा नई लगे।"

कोविड के बाद बस्ती के कई बच्चों को स्कूल छोड़कर कारखानों और दुकानों में काम करके कमाना शुरू करना पड़ा था। इन बच्चों के साथ काम करना हमारे लिए एक नई चुनौती थी - खासकर लड़कों के साथ। कुछ बच्चे तो चंदा से 4-5 साल ही छोटे रहे होंगे।

"यह वो उम्र है - ऐसी चीज़ें होती ही हैं, बात करना होगी उनसे।" मैंने कहा।

वह चुप रही।

"इतनी आसानी-से हिम्मत मत हार। बदलेंगे।"

उसने कहा तो कुछ नहीं मगर हल्के-से अपना सिर हिलाया।

मुझे बात वहीं छोड़ देनी चाहिए थी मगर मैंने खुद को रोका नहीं, "अरे, इतना बुरा मत मान, बच्चे ही तो हैं।"

"ह्म्म्... बच्चे। इसीलिए आप से कुछ नहीं कहती। आपने बार-बार पूछा तो बोलना पड़ा। जो भी हो, आप बच्चों का ही पक्ष लेती हैं, गलती हमेशा हमारी ही होती है न?" उसकी आवाज़ में गुस्सा था और आँखों से आँसू बहने ही वाले थे कि वो उठकर चली गई।

माया बगल में बैठी थी, वह भी अपने कन्धों को उचकाते हुए वहाँ से चली गई।

शाम को मैं गोलू से बात करने के लिए उसके घर गई। चंदा का घर वहाँ से दूर नहीं था, तो सोचा कि एक बार उससे मिलकर सॉरी तो बोल दूँ। रास्ते में चंदा की माँ दिख गईं। वो कम्पनी से लौट रही थीं। "कहाँ जात हस?" उन्होंने पूछा। "अरे, लाल जोहार दीदी! तोर इच घर जात रेहे हव। कइसे हस?" बात करते-करते हम दोनों उनके घर की ओर चलते रहे।

"तबियत कइसे हे, दीदी तोर?" मैंने उनसे पूछा।

"सब बने-बने बहिनी... कभी कभार ज़्यादा वजन हो जथे त एक साइड थोकन पिराथे। मगर वतना बुरा नई हे, दोबारा स्कैन करवाए बर भेजे रिहिस हे डॉक्टर ह। कालीच आईस हे रिपोर्ट ह, अँग्रेजी म लिखा हे, थोकन देख लेबे।"

उनके ऑपरेशन को शायद पाँच हफ्ते ही हुए थे जब उन्होंने चंदा को बताया कि वो फिर से पेट से थीं। इस बार चंदा ने ही उनसे कहा कि ऑपरेशन करना ठीक होगा। लेकिन चंदा का कहना था कि पापा को ऑपरेशन कर लेना चाहिए। कई बार धुलाई• करने की वजह से माँ का शरीर कमज़ोर हो चुका था। हम सब ने भी दीदी से यही कहा था। दीदी ने चंदा के पापा से बात करने की कोशिश की थी मगर वो माने नहीं, तो दीदी ने ही करा लिया।

जब घर पहुँचे तो देखा कि चंदा का छोटा भाई अपने गाल को पकड़कर चीख-चीखकर रो रहा था। चंदा पास में खड़ी थी - आँखों में गुस्सा और हाथ में टूटा मोबाइल। कई महीनों तक पैसे बचाकर उसने मोबाइल अपनी कमाई से खरीदा था। यह सब देखकर दीदी का दिमाग खराब हो गया। उन्होंने अपनी थैली रखी और चंदा पर चिल्लाकर एक

• *गर्भपात।*

थप्पड़ भी मार दिया। "चुप रे! जब देखो तब छोटे भाई से लड़ते रहती है!"

थप्पड़ ने न जाने क्या चोट पहुँचा दी कि चंदा ने उनसे कहा, "सही नाम रखा तुम्हारा। तुम सच में मन को तोड़ देती हो।"

दीदी ने कुछ नहीं कहा। अपने हाथ-पैर धोने चुपचाप छत पर चली गईं, जैसे कि उन्होंने बात सुनी ही न हो। लेकिन कन्धों में थकान के साथ वो चोट दिख रही थी।

चंदा ने मेरी ओर देखा। "कल आती हूँ। स्कैन्स तब देख लूँगी," मैंने कहा और वहाँ से निकल आई।

* * *

अगले दिन चंदा स्कूल नहीं आई। कई दिनों से बात चल रही थी कि स्कूल के कुछ शिक्षक दिल्ली के एक दूसरे स्कूल का विज़िट करेंगे, उनके काम के बारे में सीखने। चंदा का बहुत मन था जाने का। मगर उसके पापा कहीं आने-जाने नहीं देते थे। चिल्ला देते थे, अगर 6 बजे के बाद बाहर रहती तो। इस बार तो माँ भी गुस्सा थीं और ऑपरेशन के बाद घर में लड़ाई भी बहुत बढ़ गई थी।

"शायद ही जान दिही," माया ने कहा, "कल रात कुछ होगे ओकर यहाँ। ओकर बहिन के फोन पे बात होए रिहिस त पता चलीस हे। एकर सति आज नई आईस हे।"

"हाँ, में वही रेहे हव। माँ के साथ थोकन झगड़ा हो गे रिहिस हे, बात अतेक बड़े भी नहीं रिहिस हे मगर..."

"नहीं, रात में पापा संग आऊ होगे।"

"ओह।"

"पी के आए रिहिस हे शायद। आतेइच माँ ला मारेल धर लीस हे। चंदा ला भी मारीस हे शायद।"

* * *

उस शाम जब मैं उनके घर पहुँची तो दोनों ने कुछ नहीं कहा। दीदी ने स्कैन लाकर दिखाया और फिर किचन में चाय चढ़ाने घुस गईं।

"अरे, आज तक मुझे तुम्हारी माँ का नाम नहीं पता था। वाह! कितना सुन्दर नाम है," मैंने कहा। चंदा ज़ोर-से हँसने लगी। "सुन्दर?!! ते समझत हस वो ओकर मतलब?" उसने कहा। "माँ आठ बहनों में से एक है। लड़के के लिए कोशिश कर-करके उनकी माँ थक गई। पाँच लड़कियों के बाद जब वो पैदा हुई तो वो आखरी कड़ी जैसी थी - मन को उसने तोड़ ही दिया। इसीलिए मंतोड़ा नाम रखा। माँ उनके लिए दुःख की प्रतीक थी। माँ का वो दुःख देने का बोझ, उनके नाम में ही पिरो दिया। उनको कभी भूलने नहीं दिया।"

उस दिन चंदा ने गुस्से में जो दीदी को कहा था, वो याद आया। उसने दीदी की ओर देखा। दीदी को उसकी आँखों में गलती का एहसास दिखाई दिया लेकिन वे चुप रहीं। उन

दोनों की खामोश नज़रें देखती रहीं। फिर मैंने अपनी बेवकूफी का एहसास करते हुए चुपके से कहा, "ओह, मुझे तो नाम बहुत सुन्दर लगा। सॉरी कि मैं उसके मायने समझ नहीं पाई।"

मगर मंतोड़ा दीदी को बुरा नहीं लगा। उन्होंने कहा, "अरे, का सॉरी? वैसे भी ते नवा-नवा आए हस, आऊ छत्तीसगढ़ी काफी जल्दी सीख गे हस। अब भाषा के साथ-साथ धीरे-धीरे महिला मन के बारे में आऊ भी चीज़ सीखेल मिलही।"

"मैं भी तो महिला हूँ।"

"मगर सब महिला के जीवन एक बराबर नई होए ना..." चंदा ने कहा।

दीदी ने प्यार से हस्ते हुए मेरे कन्धों पर हाथ रखकर कहा, "चल, चाय पी ले।"

जब दीदी चाय लाने चली गई तो मैंने चंदा से पूछा, "क्या हुआ कल रात?"

"अरे, वहीच पुराना बात ल लेकर फिर से शुरू कर दीस पापा ह।"

"शादी?"

"हाँ, कुछ ऐसे ही। घर लौटते ही कल माँ को मारने लगे। बहुत पी लिया था उन्होंने। मुझे भी मारने लगे। कुछ एक महिने पहले किसी ने पापा के कान में कुछ भर दिया था। उस समय भी खूब मारा था हम दोनों को। कल रात नशे में थे तो वही बात फिर से दोहराने लगे और शायद कल गुरूजी भी मिले थे उनसे - साला पूरा वेतन का भी बता दिया। मैं तो आधा बताकर बाकी बचाकर रखती थी न। कहने लगे, 'नाक कटवा देगी तू हमारी' और कई गालियाँ देने लगे। 'अब्बड़ पैसा कमा के इही सब पर उड़ात हस' कहकर मेरा मोबाइल भी छीन लिया और सिम निकाल दिया... अभी इसी महिने से शादी के रिश्तों का आना भी बढ़ गया है और साथ में शादी करने का दबाव भी..."

चंदा कुछ पल शान्त थी फिर उसने कहा, "मैं शादी नहीं करना चाहती हूँ।"

"माँ तो साथ दे रही है न?"

"का साथ? मैं रिश्तों को टालती रहती हूँ और गालियाँ खाती रहती हूँ। आस-पड़ोस की महिलाएँ फुस-फुस करती रहती हैं। कहती हैं *'अब्बड़ होशियारी मारेल धर ले हे टुरी ह। बड़ा टीचर बन गे हे त कोई ओकर लायक नहीं हे। ज़्यादा पढ़ाई करे से ऐसनेइच होथे।'* माँ भी कभी-कभी यही दोहराती और हाथ में सर पकड़कर उनसे कहती 'का करहूँ बहिनी, आजकल के लइकामन• ल त जानथौ...'।"

"का शिकायत करत हस मोर?" मंतोड़ा दीदी ने मुस्कराते हुए कहा। चंदा चुप हो गई।

"दीदी तोर स्कैन में सब नार्मल आ हे। पूरा साफ होगे।"

• *बच्चे।*

चाय पीते-पीते हम बातें करते रहे। बातों-बातों में दिल्ली की बात उठी। चंदा की आँख बड़ी हो गईं। उनमें उत्साह भी था और थोड़ा डर भी। दीदी ने यह देखकर कहा, "पूछती हूँ इसके पापा से। मगर नहीं मानेंगे, इस बार रहने दे।"

"चल दीदी," चंदा ने कहा, "6:30 बज गए। हमारा मीटिंग है।"

"ओह हाँ, मैं तो भूल ही गई थी। मेरे फोन पर ही जुड़ जाएँ क्या?"

"नहीं, मैं अपने मोबाइल से जुड़ जाऊँगी।" ऐसा कहकर चंदा ने मंतोड़ा दीदी से कहा, "माँ, में ह पापा से बिना पूछे फोन ला वापिस ले डरे हव सिम डालके। हमर एक मीटिंग हे आज।"

अचानक से दरवाज़े के पास से एक आवाज़ आई। "क्या करती रहती है फोन पर टुकुर-टुकुर दिनभर? मोहल्ले में तो और भी टीचर हैं, वो तो इतना नहीं करते। तुम कौन-सी इतनी महान टीचर बन गईं?"

रामीन बाई।

मंतोड़ा दीदी की सहेली। पड़ोस में रहती थीं और दोनों एक ही कम्पनी में काम करने जाती थीं। अक्सर शाम को कुछ देर तक छत पर दीदी के साथ बैठने आ जाती थीं। चंदा की उनसे उतनी पटती नहीं थी। वो शादी के बारे में बोलती रहतीं और चंदा के लिए रिश्ते ढूँढती रहती थीं।

मंतोड़ा दीदी उन्हें देखकर मुस्कराईं, "सही कहात हस बहिनी। मोला भी समझ नई आए, एमन का-का करत रहिथे। खैर। चल, ऊपर चलथन।"

दोनों छत पर चली गईं। चंदा सर हिलाते हुए सीढ़ी पर बैठ गई। वहाँ नेटवर्क ठीक आता था। मीटिंग शुरू हो चुकी थी। कारखानों में काम की परिस्थितियों पर बात हो रही थी और दूसरी प्रस्तुति चंदा को ही देनी थी। वह मंतोड़ा दीदी के काम के हालात और उनकी रोज़ी और बेरोज़गारी के दौर पर बात रख रही थी। कम्पनी में वे तगाड़ी में सामान ढोने का काम करती थीं। बहुत मेहनत का काम था।

पिछले महीने हमने महिलाओं के काम का एक सर्वे किया था - शिक्षकों और संगठन के युवा कार्यकर्ताओं ने अलग-अलग बस्तियों में महिलाओं से बातचीत की थी। चंदा ने अपनी माँ के साथ की थी। इस कम्पनी में तो उनको 2-3 हफ्ते ही हुए थे। इससे पहले 9 साल से वे एक ही कम्पनी में जाती थीं। ऑपरेशन के बाद डॉक्टर ने कम-से-कम 15 दिन के लिए काम पर जाने से मना किया था। इससे पहले उनकी बहन की तबियत खराब थी तो उन्होंने 10 दिन की छुट्टी ली थी और उनका खयाल रखने गाँव चली गई थीं। इतनी छुट्टियों के चलते उनको कम्पनी से निकाल दिया था। ठीक होने के बाद उन्होंने अब नया काम ढूँढ लिया था। यहाँ एक दिन की 180 रु. रोज़ी मिलती थी और वो पूरा पैसा चंदा के पापा

को दे देती थीं। फिर भी वे उनसे लड़ते थे - कभी पैसों पर तो कभी शक करके। चंदा को सबसे ज़्यादा गुस्सा, उनका पीकर माँ को मारने से था। वह अक्सर स्कूल आकर गुस्से में कहती, "महिलाएँ कब तक सहती रहेंगी ऐसे?"

"दीदी मुझे लगता है कि हमको बच्चों के काम के अनुभव पर भी उनसे बातचीत करना चाहिए। सतीश और गोलू के लिए भी कितना मुश्किल होता होगा न - कम्पनी में जाकर बैला बनकर काम करो या फिर घर और समाज के दबाव और ताने झेलो। इन दोनों के बीच उनके सपनों का क्या...? हम उनके शिक्षक होकर भी उनके जीवन को शायद समझ नहीं पा रहे हैं..." चंदा ने गम्भीरता से कहा। इतने में उसका नाम पुकारा गया, उसकी प्रस्तुति की बारी थी।

प्रस्तुति के बीच में ही रामीन बाई नीचे आ गईं। चंदा के सर को हलके से थपथपाया। चंदा ने अपने गुस्से को सम्भालते हुए अपनी बात जारी रखी। रामीन बाई मस्ती में अपनी जीभ निकालते हुए चली गईं। मंतोड़ा दीदी भी आकर चंदा से एक सीढ़ी ऊपर बैठ गईं। इयरफोन के चलते चंदा को पता नहीं चला। दीदी चुपचाप बैठकर चंदा की बातें सुनने लगीं। जब चंदा की नज़र उनपर पड़ी तो अचानक से वह अटक-अटककर बोलने लगी। दीदी ने उसके कन्धों पर हाथ रखा। "बोल ना, सही त कहात हस।"

उनकी आँखों में एक गर्व-सा था। चंदा की हिचकिचाहट गायब हो गई। अपनी बात पूरी करने के बाद उसने एक बार फिर-से माँ की ओर देखा। उनकी हल्की-सी मुस्कराहट ने चंदा के चेहरे पर भी एक मुस्कान ला दी। दोनों हँसने लगीं।

मगर उनकी हँसी अचानक से रुक गई, चंदा के पापा ड्यूटी से लौट आए थे। आँखें देखकर लग रहा था कि वे नशे में थे। ज़ोर-से चिल्लाने लगे और गन्दी-गन्दी गालियाँ देने लगे। मंतोड़ा दीदी भागकर नीचे, उनके पास आईं। वे दीदी को मारने ही वाले थे, मगर इस बार चंदा ने हिम्मत दिखाई। वह अपने पिताजी से बहुत डरती थी। कभी उनसे आँख मिलाकर बात नहीं करती थी। लेकिन इस बार चंदा से सहा नहीं गया। पहली बार न जाने कहाँ से वो हिम्मत आई, उसने उनसे शान्त मगर तीखी आवाज़ में कहा, "का बर मारत हस ओला? उही त हमन सबके ख्याल रखथे, ए घर ला चलाथे, पैसा कमाथे... ओ ह जाके पैसा ला दारु में नइ उड़ावत हे।"

उनका उठा हुआ हाथ चंदा की ओर मुड़ने लगा मगर मंतोड़ा दीदी ने उनके हाथ को पकड़ लिया, और चुपचाप उनके हाथ को नीचे कर दिया। वो कुछ नहीं बोले, गुस्से में हाथ छुड़वाकर कमरे में घुस गए।

"ते जा अब," दीदी ने मुझसे कहा। "मगर दीदी..."

"चिन्ता मत कर, में ह आज रात चंदा के पास सो जहूँ।"

***

सुबह-सुबह स्कूल जाने से पहले मैंने एक बार उनके घर का चक्कर काटा। दीदी घर पर नहीं थीं। चंदा स्कूल के लिए तैयार हो रही थी। कान में बाली डालते हुए उसने कहा, "पता है दीदी, मैंने कल प्रस्तुति में एक गलती की।"

"क्या? तुम ठीक हो न? मैं वो पूछने आई थी, प्रस्तुति के बारे में चर्चा करने नहीं।"

चंदा ने मुझे अपने हाथों में कुछ पैसे दिखाए। "नई कम्पनी में माँ को 180 नहीं, 190 मिलते हैं। पापा से झूठ बोलती हैं। वो उनके पास 180 जमा करके, रोज़ 10-10 रुपए चुपके से हमारे लिए बचाती हैं।"

जब मैं वहाँ से निकली तो गली में मंतोड़ा दीदी पानी भरते हुए दिख गईं।

नल पर महिलाएँ वही रोज़ की चपर-चपर कर रही थीं। "बेटी की शादी नहीं करतेस का वो..."

"ज़्यादा दिन रखबे त लेगईया नई मिले।"

"शादी करने लायक कब से होगे हे। नहीं त इति-उती घूमत रिही अऊ, का पता नाक ला कटवा दिही, है न..."

"आजकल के लइकामन ल त जानथस।"

एक पड़ोसिन ने फिर कहा, “मोर रिश्तेदार के यहाँ के एक लड़का हे। बने नौकरी हे अऊ सीधा-साधा भी हे। ओमन आवत हे गाँव से। आ जहू तुमन मिले बर हइं?”

मंतोड़ा दीदी चुप थीं। जब गुंडी भर गई तो उसको सर पर रखकर उन्होंने उनसे कहा, “कहाँ आ सखी बहिनी, मोर बेटी त दिल्ली जात हे। आजकल के लइकामन ल त जानथस....” और मुड़कर मुस्कराते हुए वे घर की ओर चलने लगीं।

श्रेया खेमानी: एक शिक्षक और एक्टिविस्ट हैं। रायपुर, छत्तीसगढ़ के औद्योगिक इलाके में अन्य महिला साथियों के साथ न्यू लर्निंग सेंटर में बच्चों को पढ़ाने का काम करती हैं। दस साल उन्होंने वहीं के एक मज़दूर संगठन के स्कूल में पढ़ाया। उनको बच्चों के साथ काम करने से ताकत और प्रेरणा मिलती है।

उनसे shreyakhemani@hotmail.com पर सम्पर्क किया जा सकता है।

सभी चित्र: उर्वी सावंत: सृष्टि इंस्टिट्यूट ऑफ आर्ट एण्ड डिज़ाइन टेक्नोलॉजी, बैंगलोर से पढ़ाई। चित्रकार, विज़ुअल कलाकार और डिज़ाइनर हैं।

सवालीराम

सवाल: मौत के कुएँ में चलते वक्त दोपहिया वाहन और कार गिरते क्यों नहीं हैं?

– राघवेन्द्र दीवान, कक्षा-5, होशंगाबाद, म.प्र.

जवाब: क्या आपने कभी सर्कस या मेले में 'मौत का कुआँ' देखा है? यह मेलों और सर्कसों में दिखाया जाने वाला एक हैरतअंगेज़ खेल है। इसमें कोई व्यक्ति मोटर सायकिल पर सवार होकर एक कटोरेनुमा संरचना की दीवार पर मोटर सायकिल को तेज़ी-से गोल-गोल चलाता है। कई जगह मोटर सायकिल की बजाय कार का भी उपयोग होता है और बहुत बार तो एक ही कुएँ में दो मोटर सायकिल और दो कार को साथ-साथ फर्राटे भरते देखा जा सकता है!

वैसे तो इन वाहनों को सड़क पर फर्राटे भरते देखना आजकल आम नज़ारा है लेकिन खड़ी दीवार पर दौड़ते देखकर दाँतों तले उंगली दबानी पड़ती है। तो सवाल यह उठता है कि ये वाहन खड़ी दीवार पर कैसे चल लेते हैं या यूँ कहें कि कैसे चला लिए जाते हैं।

इस सवाल को भौतिकी के नज़रिए से देखेंगे तो बात समझ में आती है। इसके पीछे जो विज्ञान है, उसे समझने के लिए हम पहले एक-दो खेल खेलेंगे और इस घटना में छुपे पहलुओं को पहले गुणात्मक तौर पर महसूस करने की कोशिश करेंगे। अन्त में, एक सरल मात्रात्मक विश्लेषण करके इस घटना को काफी हद तक समझने के इस प्रयास को हम पूरा करेंगे।

डोरी से बँधे पत्थर को घुमाना

क्या आपने कभी डोरी के एक छोर से किसी छोटे पत्थर को बाँधकर इस तरह से घुमाया है जैसा कि चित्र-1 में दिखाया गया है? अगर नहीं, तो अभी घुमाइए। यदि आप पत्थर को एकसमान गति से घुमाते

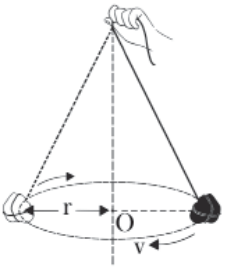

चित्र-1: *यह स्थिति सन्तुलन की अवस्था को दर्शाती है जहाँ पत्थर न ऊपर जाता है, न नीचे।*

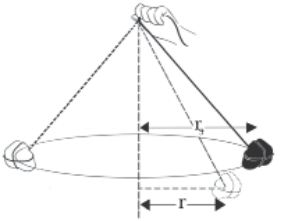

चित्र-2: *पत्थर की गति बढ़ाने पर उसका बाहर की ओर जाना।*

रहने की कोशिश करें, तो यह लगभग एक निश्चित त्रिज्या के वृत्ताकार पथ पर घूमता रहेगा, जैसा कि चित्र-1 में दिखाया गया है। यदि आप पत्थर के घूमने की गति को बढ़ाने की कोशिश करें, तो यह बाहर (और ऊपर) की तरफ जाते हुए बड़ी त्रिज्या के वृत्ताकार पथों पर घूमता दिखेगा, जैसा कि चित्र-2 में दर्शाया गया है। यदि आप पत्थर के घूमने की गति को कम करने की कोशिश करें, तो यह भीतर (और नीचे) की ओर आते हुए छोटी त्रिज्या के वृत्ताकार पथों पर घूमता दिखेगा, जैसा कि चित्र-3 में दिखाया गया है।

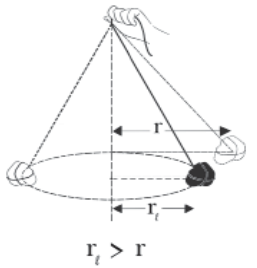

चित्र-3: *पत्थर की गति घटाने पर उसका भीतर की ओर आना।*

जैसे-जैसे पत्थर की गति में परिवर्तन किया जाता है, उसके वृत्ताकार पथ की त्रिज्या भी उसी के अनुसार बदलती है। गति बढ़ाने पर पत्थर बाहर और ऊपर की ओर जाना चाहता है, जबकि गति कम करने पर वह भीतर और नीचे की ओर आना चाहता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि वृत्तीय गति में पथ की त्रिज्या, वस्तु की गति पर प्रत्यक्ष रूप से निर्भर करती है।

कटोरे में घूमता कंचा

इस खेल में हमें एक कंचे और एक कटोरे की ज़रूरत है। कटोरे को फर्श पर और कंचे को कटोरे के अन्दर रखें जैसा कि चित्र-4 में दिखाया गया है।

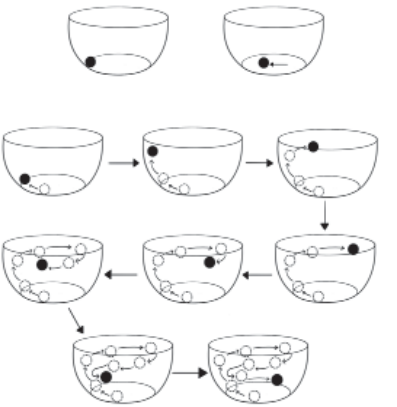

चित्र-4: *इस चित्र में कंचा और कटोरे के खेल के चरणों को दिखाया गया है।*

- कंचे को बहुत हल्के-से एक धक्का दें। आप क्या देखते हैं? कंचा थोड़ा-सा घूमेगा और तुरन्त कटोरे के तल पर वापस आकर रुक जाएगा। वह दीवार पर ज़्यादा ऊपर नहीं चढ़ पाएगा। क्यों? क्योंकि गति बहुत कम है।
- अब कंचे को थोड़ा तेज़ धक्का दें। क्या अब कंचा ज़्यादा चक्कर लगा पाता है? वह कितने चक्कर पूरे करता है? कंचा लगभग 1-2 चक्कर पूरे करेगा और दीवार पर थोड़ा ऊपर चढ़ता हुआ दिखेगा। फिर धीरे-धीरे धीमा होकर नीचे आ जाएगा।
- अब कंचे को बहुत तेज़ धक्का दें। क्या तेज़ गति होने पर कंचा ज़्यादा चक्कर लगा पाता है? कंचा अब चार-पाँच या उससे भी ज़्यादा चक्कर लगाएगा। वह कटोरे की दीवार पर काफी ऊपर चढ़ेगा, शायद किनारे तक भी पहुँच जाए!

कंचे को शुरू में अगर ज़्यादा ज़ोर-से धक्का दिया जाए तो वह कटोरे में ज़्यादा समय तक चक्कर लगाता है। कंचे की गति जैसे-जैसे धीमी होती जाती है, वह चक्कर लगाते हुए नीचे की तरफ आता है और अन्त में सबसे नीचे आकर रुक जाता है।

मौत के कुएँ से कनेक्शन

चित्र-5 में मौत का कुआँ दिखाया गया है। इसकी दीवार नीचे से ऊपर की ओर बाहर की तरफ झुकी होती है, बिलकुल एक कटोरे की तरह जैसा कि हमने अपने खेल में देखा था। यह डिज़ाइन बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि यह गाड़ी को शुरुआत में दीवार पर धीरे-धीरे चढ़ने में मदद करती है। इसमें ड्राइवर अपनी गाड़ी

चित्र इंटरनेट से साभार

चित्र-5: *मौत का कुआँ।*

को बहुत तेज़ रफ्तार से घुमाता है, और गाड़ी दीवार से चिपकी रहती है।

आइए, समझते हैं कि ड्राइवर कैसे गाड़ी को शुरू करके उसे दीवार पर चढ़ाता है:

चरण 1: तल पर शुरुआत - ड्राइवर गाड़ी को कुएँ के तल (नीचे के समतल भाग) पर शुरू करता है। यहाँ गाड़ी सामान्य रूप से ज़मीन पर चलती है। इस समय गाड़ी की गति बहुत कम होती है।

चरण 2: गति बढ़ाना - ड्राइवर तल पर गोल-गोल घूमते हुए धीरे-धीरे गति बढ़ाता है। वह छोटे वृत्त में तेज़ी-से घूमता है। इससे गाड़ी में गतिज ऊर्जा बढ़ती है। यह बहुत महत्वपूर्ण चरण है - अगर गति कम हो तो गाड़ी दीवार पर नहीं चढ़ सकती।

चरण 3: दीवार की ओर बढ़ना - जब गति पर्याप्त हो जाती है, तब ड्राइवर गाड़ी को धीरे-धीरे दीवार की ओर मोड़ता है। गाड़ी तिरछी होकर दीवार के निचले हिस्से को छूने लगती है। इस समय गाड़ी आधी ज़मीन पर और आधी दीवार पर होती है।

चरण 4: दीवार पर चढ़ना - और अधिक गति बढ़ाकर, ड्राइवर गाड़ी को पूरी तरह दीवार पर चढ़ा देता है। गाड़ी दीवार के समानान्तर घूमने लगती है।

चरण 5: ऊपर की ओर जाना - गति को और बढ़ाकर, ड्राइवर गाड़ी को दीवार पर ऊपर की ओर ले जाता है। पूरे समय गति स्थिर और तेज़ बनाए रखना ज़रूरी होता है।

चरण 6: स्थिर गति बनाए रखना - अगर गति कम हो जाए, तो गाड़ी नीचे सरकने लगेगी। इसलिए लगातार एक्सेलरेटर दबाए रखना पड़ता है।

चरण 7: नीचे उतरना - जब प्रदर्शन खत्म करना हो, तो ड्राइवर धीरे-धीरे गति कम करता है। गाड़ी धीरे-धीरे नीचे की ओर खिसकती है। फिर तिरछी होकर तल पर वापस आ जाती है।

क्या आपने महसूस किया कि गाड़ी का मौत के कुएँ में घूमना हमारी कटोरी में कंचे के घूमने के काफी समान है?

मौत के कुएँ में गाड़ी लगातार तेज़ चलती रहती है (इंजन की मदद से), इसलिए वह नीचे नहीं गिरती। अगर ड्राइवर गति कम कर दे, तो गाड़ी भी कंचे की तरह नीचे खिसकने लगेगी!

गुणात्मक विश्लेषण की व्याख्या

गाड़ी के मौत के कुएँ की दीवार पर बिना नीचे गिरे, टिककर चलते रहने की घटना में निहित भौतिकी के नियमों की एकदम सटीक व्याख्या और उससे जुड़ी गणनाओं को यहाँ करना अभी सही नहीं होगा। लेकिन हमने अपने खेल के ज़रिए अब तक यह तो समझ ही लिया है कि मोटे तौर पर इन तीनों घटनाओं के होने के तरीके में समानता तो है। इसलिए

हम डोरी से बँधे पत्थर और कंचे के उदाहरणों से बनी समझ की मदद से ही इस लेख के सबसे शुरुआत में पूछे गए सवालों के जवाब देने की कोशिश करेंगे।

ज़्यादा ज़ोर-से धक्का लगाकर हम कंचे को ज़्यादा गतिज ऊर्जा (kinetic energy) देते हैं। गतिज ऊर्जा जितनी ज़्यादा थी, कंचा उतने ही ज़्यादा समय तक कटोरे की दीवार पर चक्कर लगा पाया।

पर कंचे की गति कम क्यों होती जाती है? कटोरे की सतह, जो कंचे के साथ सम्पर्क में होती है, कंचे पर उसकी गति की दिशा के विपरीत एक बल लगाती है, जिसे हम रोलिंग घर्षण (rolling friction) कहते हैं। कंचे पर यह रोलिंग घर्षण बल लगातार लगते रहने के कारण, उसकी गतिज ऊर्जा धीरे-धीरे कम होती जाती है और अन्त में शून्य हो जाती है, तब कंचा नीचे आकर रुक जाता है। यदि किसी तरह हम कंचे की गतिज ऊर्जा को अधिक समय तक बनाए रख सकें, या उसकी कमी को बाहर से पूरा कर सकें, तो कंचा अधिक समय तक कटोरे की दीवार पर घूमता रह सकता है।

अगला प्रश्न यह उठता है कि गति कम हो जाने पर कंचा नीचे की तरफ क्यों आने लगता है? इसकी वजह है, कंचे पर लगने वाला गुरुत्वाकर्षण बल (mg), जो उसे हर वक्त नीचे की तरफ खींचने की कोशिश कर रहा होता है। लेकिन गति तेज़ होने पर कंचे को ऊपर कौन पकड़े हुए था? निश्चय ही, ऊपर की तरफ कंचे पर एक बल लग रहा होगा, जो गुरुत्वाकर्षण बल के प्रभाव को सन्तुलित करने में तब समर्थ हो पा रहा होगा, जब कंचे की गति काफी तेज़ थी। कंचे पर कटोरी की दीवार द्वारा लगने वाले अभिलम्ब बल (N) का वर्टिकल यानी ऊर्ध्वाधर घटक गुरुत्वाकर्षण बल के इस प्रभाव को सन्तुलित करने में मदद करता है। कंचे या गाड़ी के टायर पर लगने वाला अभिलम्ब बल इन स्थितियों में उनकी गति के मान पर निर्भर करता है। गति जितनी अधिक होती है, अभिलम्ब बल का मान उतना ही अधिक होता है।

रोलिंग घर्षण, गुरुत्वाकर्षण बल और अभिलम्ब बल के अलावा, कंचे या गाड़ी पर स्थैतिक घर्षण (f_s) भी लग सकता है, और यह उसी समय प्रकट होता है जब कंचे या गाड़ी में दीवार की ढाल पर ऊपर या नीचे जाने की प्रवृत्ति पैदा हो रही हो। यह ठीक वैसा ही है जैसे डोरी से बँधे पत्थर में अपनी गति की वजह से बाहर और ऊपर (या भीतर और नीचे) आने की प्रवृत्ति दिखाई दे रही थी।

कुछ महत्वपूर्ण तथ्य

यदि गति v से एक सीधे रास्ते पर चलती हुई m द्रव्यमान की एक गाड़ी

को अचानक त्रिज्या r की एक वृत्ताकार सड़क की तरफ घुमाना हो, तो गाड़ी पर वृत्ताकार पथ के केन्द्र की दिशा में mv^2/r मान का एक नेट बल आरोपित होना पड़ेगा। इस नेट बल को अभिकेन्द्रीय बल (centripetal force) कहा जाता है। ध्यान दें कि अभिकेन्द्रीय बल का अस्तित्व गाड़ी पर आरोपित (applied) बलों के कारण है, न कि यह किसी अलग बल के रूप में गाड़ी पर लग रहा है।

किसी सतह पर उसके सम्पर्क में रहने वाली दूसरी सतह द्वारा लगाया जाने वाला स्थैतिक घर्षण बल अपने मान और दिशा को इस प्रकार समायोजित करता है कि एक सतह दूसरी के सापेक्ष गति न कर सके। लेकिन यह तब तक ही सम्भव होता है जब तक स्थैतिक घर्षण बल बढ़ते-बढ़ते एक निश्चित अधिकतम मान ($f_{s, max}$) तक न पहुँच जाए। कई प्रयोगों से यह सिद्ध है कि यह अधिकतम मान सतहों के बीच लगने वाले अभिलम्ब बल के समानुपाती होता है। यानी $f_{s, max} = \mu_s N$, जहाँ μ_s को स्थैतिक घर्षण गुणांक (coefficient of static friction) कहते हैं। स्थैतिक घर्षण गुणांक सम्पर्क सतहों की प्रकृति और सतह की चिकनाई या खुरदरेपन पर निर्भर करता है।

*****

मात्रात्मक विश्लेषण

इन सभी घटनाओं का गुणात्मक विश्लेषण कर लेने के बाद, इनका मात्रात्मक विश्लेषण करने के लिए हम अब तैयार हैं। इसके लिए ज़मीन पर झुकी हुई एक सड़क पर गति करती हुई एक गाड़ी पर विचार करते हैं, जैसा कि चित्र-6 में दिखाया गया है।

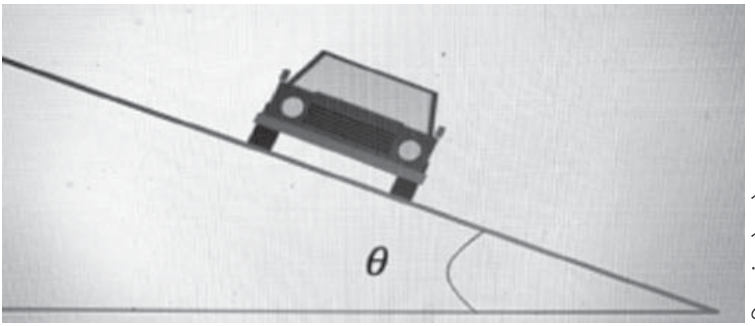

चित्र इंटरनेट से साभार

चित्र-6: *कोण पर झुकी हुई सड़क पर एक वृत्ताकार पथ पर चलती गाड़ी।*

मान लीजिए कि इस क्षण गाड़ी की गति v है और यह त्रिज्या r के एक वृत्ताकार पथ पर घूम रही है। डोरी से बँधे पत्थर को घुमाने वाले खेल के अनुभव से हम यह तो कह सकते हैं कि पत्थर की ही तरह गाड़ी में भी सड़क पर चक्कर लगाने के दौरान सड़क की ढाल पर खिसककर ऊपर जाने या नीचे आने की प्रवृत्ति हो सकती है। यह भी सम्भव है कि गाड़ी में इन दोनों में से कुछ भी करने की प्रवृत्ति न हो। आइए, न्यूटन के गति के नियमों का इस्तेमाल करके इन तीनों सम्भावनाओं का विश्लेषण किया जाए!

केस 1: चक्कर लगाने के दौरान गाड़ी में सड़क की ढाल पर खिसककर ऊपर जाने की प्रवृत्ति है।

चित्र-7 में कार पर लगने वाले सभी बलों को x और y दिशाओं में, उनके घटक बलों में विभाजित करके दर्शाया गया है (ध्यान दें कि कार को एक आयताकार ब्लॉक के रूप में मान लिया गया है)।

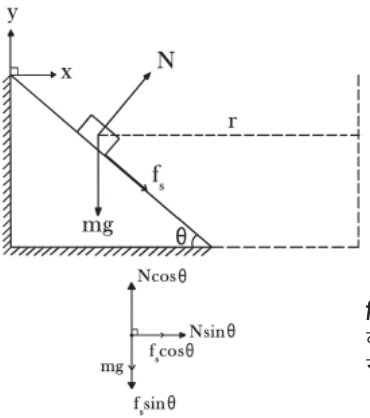

चित्र-7: *खिसककर ऊपर जाने की प्रवृत्ति होने के दौरान गाड़ी पर लगने वाले बलों के साथ गाड़ी का फ्री बॉडी डायग्राम।*

x दिशा में बलों के सन्तुलन का समीकरण:

$$f_s \cos\theta + N \sin\theta = mv^2/r \qquad \text{[समीकरण-1]}$$

y दिशा में बलों के सन्तुलन का समीकरण:

$$N \cos\theta = mg + f_s \sin\theta \qquad \text{[समीकरण-2]}$$

समीकरण-1 और समीकरण-2 को N और f_s के लिए हल करने पर:

$$N = (mv^2/r) \sin\theta + mg \cos\theta \qquad \text{[समीकरण-3]}$$

$$f_s = (mv^2/r) \cos\theta - mg \sin\theta \qquad \text{[समीकरण-4]}$$

समीकरण-3 और समीकरण-4 यह दर्शाते हैं कि v बढ़ने के साथ N और f_s, दोनों बढ़ते हैं। यदि बढ़ते-बढ़ते v के किसी मान v_{up} के लिए $f_s = f_{s,max}$ हो जाए, तो गाड़ी सड़क की ढाल पर ऊपर की तरफ सच में खिसकना शुरू कर देगी!

$f_s = f_{s,max} = \mu_s N$, को हल करने पर:

$$v_{up} = \sqrt{[rg(\tan\theta + \mu_s)/(1 - \mu_s \tan\theta)]} \quad \text{[समीकरण-5]}$$

केस 2: चक्कर लगाने के दौरान गाड़ी में सड़क की ढाल पर खिसककर नीचे आने की प्रवृत्ति है।

चित्र-8 में कार पर लगने वाले सभी बलों को x और y दिशाओं में, उनके घटक बलों में विभाजित करके दर्शाया गया है।

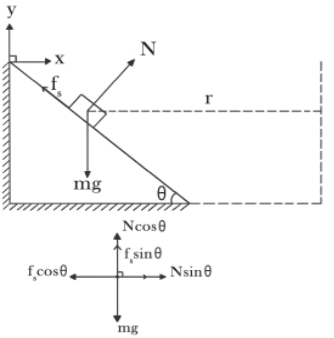

चित्र-8: *खिसककर नीचे आने की प्रवृत्ति होने के दौरान गाड़ी पर लगने वाले बलों के साथ गाड़ी का फ्री बॉडी डायग्राम।*

x दिशा में बलों के सन्तुलन का समीकरण:

$$N \sin\theta - f_s \cos\theta = mv^2/r \quad \text{[समीकरण-6]}$$

y दिशा में बलों के सन्तुलन का समीकरण:

$$N \cos\theta + f_s \sin\theta = mg \quad \text{[समीकरण-7]}$$

समीकरण-6 और समीकरण-7 को N और f_s के लिए हल करने पर:

$$N = (mv^2/r) \sin\theta + mg \cos\theta \quad \text{[समीकरण-8]}$$

$$f_s = mg \sin\theta - (mv^2/r) \cos\theta \quad \text{[समीकरण-9]}$$

समीकरण-9 यह दर्शाता है कि v के घटने पर f_s का मान बढ़ता है। यदि घटते-घटते v के किसी मान v_{down} के लिए $f_s = f_{s,max}$ हो जाए, तो गाड़ी सड़क की ढाल पर नीचे की तरफ खिसकना शुरू कर देगी। $f_s = f_{s,max} = \mu_s N$ को हल करने पर:

$$v_{down} = \sqrt{[rg(\tan\theta - \mu_s)/(1 + \mu_s \tan\theta)]} \quad \text{[समीकरण-10]}$$

केस 3: चक्कर लगाने के दौरान गाड़ी में सड़क की ढाल पर फिसलने की प्रवृत्ति है ही नहीं।

चित्र-9 में गाड़ी पर लगने वाले सभी बलों को x और y दिशाओं में उनके घटक बलों में विभाजित करके दर्शाया गया है, जब गाड़ी की गति v_0, इतनी है कि इसमें ऊपर या नीचे खिसकने की कोई प्रवृत्ति नहीं है। जब गाड़ी में फिसलने की कोई प्रवृत्ति नहीं होगी, तब f_s का मान शून्य होगा।

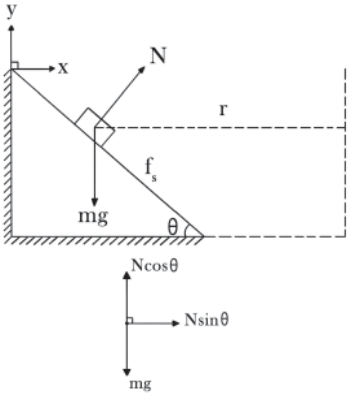

चित्र-9: *फिसलने की कोई प्रवृत्ति नहीं होने की स्थिति में गाड़ी का फ्री बॉडी डायग्राम।*

x दिशा में बलों के सन्तुलन का समीकरण:

$$N \sin\theta = mv_o^2/r \qquad \text{[समीकरण-11]}$$

y दिशा में बलों के सन्तुलन का समीकरण:

$$N \cos\theta = mg \qquad \text{[समीकरण-12]}$$

समीकरण-11 और समीकरण-12 को v_o के लिए हल करने पर:

$$v_o = \sqrt{rg \tan\theta} \qquad \text{[समीकरण-13]}$$

चलिए, r, θ और μ_s के कुछ मानों के लिए v_{up}, v_{down} और v_o की गणना करते हैं और कुछ निष्कर्ष निकालते हैं। ध्यान दीजिए कि इस गणना में कुएँ की दीवार और गाड़ी के टायर के बीच μ_s का मान नीचे से ऊपर की तरफ घटते हुए लिया गया है।

$r = 5$ m, $\theta = 40^0$, $\mu_s = 0.6$

- $v_0 = 6$ मीटर/से = 23 किमी/घण्टा
- v_{down} = 2.8 मीटर/से = 10 किमी/घण्टा
- v_{up} = 11.9 मीटर/से = 43 किमी/घण्टा

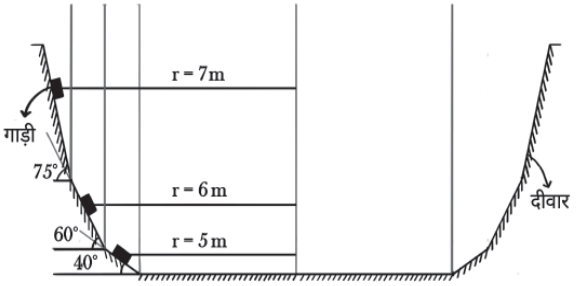

चित्र-10: *मौत के कुएँ से लगभग मिलते-जुलते एक सरल ढाँचे का स्केच।*

r = 6 m, θ = 60⁰, μ_s = 0.4

- v_0 = 10.1 मीटर/से = 36 किमी/घण्टा
- v_{down} = 6.8 मीटर/से = 24 किमी/घण्टा
- v_{up} = 20.2 मीटर/से = 73 किमी/घण्टा

r = 7 m, θ = 75⁰, μ_s = 0.2

- v_0 = 13.7 मीटर/से = 49 किमी/घण्टा
- v_{down} = 9.6 मीटर/से = 34 किमी/घण्टा
- v_{up} = 34.5 मीटर/से = 124 किमी/घण्टा

यह गणना हमें बताती है कि 10–43 किमी/घण्टा के बीच की गति से गाड़ी बिना नीचे गिरे कुएँ की दीवार के निचले हिस्से पर घूम सकती है। यदि गाड़ी को ऊपर ले जाना हो, तो ड्राइवर धीरे-धीरे अपनी गति बढ़ाकर 24–73 किमी/घण्टा कर सकता है और बिना गिरे चक्कर लगा सकता है। यदि गाड़ी को सबसे ऊपर ले जाना हो, तो 34–124 किमी/घण्टा की गति भी गाड़ी को नीचे नहीं गिरने देगी।

सौरभ पांडेय: आईआईटी, कानपुर के मैकेनिकल इंज़ीनियरिंग विभाग में पीएच.डी. के छात्र हैं।

सभी चित्र: रक्षिता सैनी: नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ डिज़ाइन, अहमदाबाद से ग्राफिक डिज़ाइन में पोस्टग्रेजुएट डिग्री कर रही हैं। इन्हें किताबें पढ़ना बहुत पसन्द है। साथ ही, नई चीज़ें एक्सप्लोर करना और नई रुचियाँ खोजना अच्छा लगता है।

इस बार का सवाल:
नमकीन भोजन खाने के बाद हमें ज़्यादा प्यास क्यों लगती है?

- रुद्राक्ष मिश्रा, कक्षा-9, भोपाल, म.प्र.

आप हमें अपने जवाब sandarbh@eklavya.in पर भेज सकते हैं।

प्रकाशित जवाब देने वाले शिक्षकों, विद्यार्थियों एवं अन्य को पुस्तकों का गिफ्ट वाउचर भेजा जाएगा जिससे वे पिटाराकार्ट से अपनी मनपसन्द किताबें खरीद सकते हैं।

गोह का विशाल बिल

कालू राम शर्मा

दुनियाभर में छिपकलियों की लगभग 5800 प्रजातियाँ हैं जो अंटार्कटिका को छोड़कर लगभग हर महाद्वीप में पाई जाती हैं। छिपकलियों की कई प्रजातियाँ अपने अण्डों की सुरक्षा करने, अपने शरीर के तापमान को बरकरार रखने और शिकारियों से बचने के लिए ज़मीन में बिल बनाती हैं। कुछ छिपकलियाँ जैसे गिरगिट (कैमीलियन) झाड़ियों व पेड़ों पर रहती हैं लेकिन अण्डे देने के लिए ज़मीन में बिल बनाती हैं। बिल बनाने वाली सभी छिपकलियाँ खुद ही अपना बिल खोदती हैं। बिल खोदने के लिए इनके पास मज़बूत पंजे होते हैं। बिल में घुसने के लिए कुछ प्रजातियों की छिपकलियों का सिर तिकोना-सा होता है।

गोह भी एक प्रकार की छिपकली है। गोह कहाँ रहती है – इस मामूली-से समझे जाने वाले सवाल पर एक वैज्ञानिक ने विस्तृत अध्ययन किया।

उसने यह भी जानने की कोशिश की कि गोह बिल कैसे और किस जगह पर बनाती है। गोह का बिल अन्दर से कैसा होता होगा? क्या गोह अकेली रहती है या समूह में? क्या इसके आसपास अन्य जीव भी मिलते हैं? अध्ययन के दौरान उन्होंने गोह के बिल को लेकर और भी बहुत कुछ जाना।

खासकर, पहली बरसात के दौरान जब मौसम में ठण्डक घुलना शुरू होती है तो गोह दिखने लगती है। गोह कहाँ रहती होगी – इस सवाल ने मुझे भी काफी सोचने व पढ़ने के लिए प्रेरित किया। स्थानीय लोग बताते हैं कि गोह किसी वीरान पेड़ की खोह या ज़मीन में बिल बनाकर रहती है। मैंने भी इसे पुराने पेड़ की खोह में ही देखा है। नर गोह दिन में बिल से अधिक दूरी तक भटकते पाए गए जबकि मादा कम दूरी तक जाती हैं। जहाँ गोह रहती है, लोग वहाँ जाने से काफी डरते हैं क्योंकि अक्सर माना जाता है कि गोह खतरनाक होती है। खतरनाकपन की यह मान्यता एक तो इसके विचित्र आकार और ऊपर से जीभ को लपलपाने के कारण पनपी है। दरअसल, गोह विषैली नहीं होती।

चित्र-1: *जीभ लपलपाती हुई गोह (मॉनिटर लिज़र्ड)। फोटो - सीअन डूडी।*

गोह का बिल: संरचना व निर्माण

बात को आगे बढ़ाने से पहले यह बताता चलूँ कि कुछ लोगों ने गोह को बिल में अकेले आराम करते देखा है। एक वैज्ञानिक ने यमुना नदी घाटी क्षेत्र में गोह के बिलों का बारीकी-से अध्ययन किया। अवलोकन में पाया गया कि गोह खुद से बिल खोदने में सक्षम होती है और अक्सर बिल बनाने के कार्य में जुटी रहती है। गोह जो बिल बनाती है, वह पहले से ही चूहों या अन्य जानवरों के बिल हो सकते हैं जिसे खोदकर गोह अपने लायक बना लेती है। जब गोह पूरी तरह से खुद ही बिल

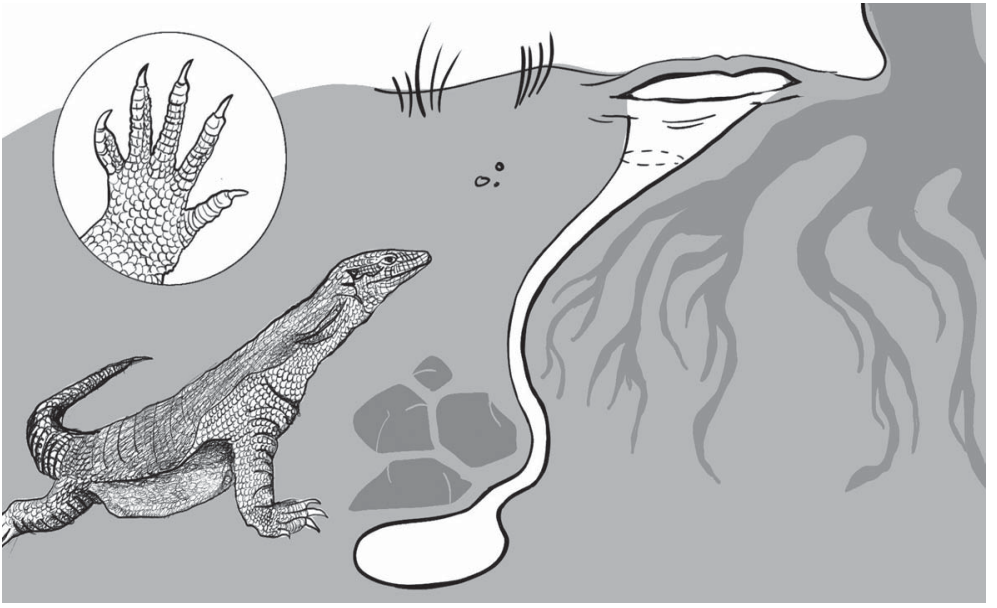

चित्र-2: *गोह अपनी बिल खोदने की क्षमता के लिए जानी जाती है, हालाँकि इन बिलों की संरचना और उपयोग प्रजाति तथा पर्यावरण के अनुसार भिन्न हो सकते हैं। इनकी विशाल बिल प्रणाली सैकड़ों छोटे जानवरों को भी आश्रय देती है। कुछ जानवर इन बिलों का उपयोग सर्दियों में शीतनिद्रा के लिए करते हैं तो कुछ इन्हें शरण-स्थल के रूप में इस्तेमाल करते हैं, जब उन्हें गर्म और शुष्क ग्रीष्म ऋतु में निष्क्रिय होना पड़ता है। कुछ शायद शिकारियों से छिप रहे होते हैं और कुछ तो अपने अण्डे तक इन बिलों में दे देते हैं।* ***चित्र:*** *उर्वी सावंत।*

बनाती है तो वह मिट्टी के टीले या ढलानदार जगहों को चुनती है। यह भी देखा गया है कि वह बड़े-बड़े पत्थरों के बीच भी बिल बनाती है।

इनका बिल बेलनाकार यानी नलीनुमा होता है जो आड़े रूप में अण्डाकार होता है। बिल का सबसे आगे वाला हिस्सा आम तौर पर ऊपर से उठा हुआ होता है जबकि बिल के अन्दर का पैंदा बैठा हुआ होता है। बिल का मुँह अन्दर की सुरंग की अपेक्षा चौड़ा होता है। बिल बाहर से अन्दर की ओर धीरे-धीरे संकरा होता जाता है और आखरी में फिर से थोड़ा चौड़ापन लिए होता है।

सबसे पहले गोह ज़मीन पर अपने अगले पंजों से खुदाई करती है और बारी-बारी से मिट्टी को हटाती जाती है। यदि बिल पुराना हो तो सबसे पहले उसकी सफाई करती है और फिर धीरे-धीरे खुदाई करते हुए, अन्दर घुसती जाती है और खोदी गई मिट्टी को बाहर फेंकती जाती है। अगर बिल के अन्दर किसी पेड़ की जड़ या पत्थर आ जाए तो उसे हटा पाने में गोह सक्षम नहीं होती। ऐसे में वह बिल का रास्ता बदल देती है। गोह का बिल किसी मिट्टी के खड़े

टीले में ज़मीन के समानान्तर भी हो सकता है। या फिर ज़मीन के अन्दर लम्बवत यानी खड़ा भी हो सकता है। हालाँकि, ज़मीन के अन्दर बिल एकदम खड़ा नहीं होता, थोड़ा तिरछा ही होता है।

अध्ययन में यह भी पाया गया कि अधिकांश गोह दीमक के पुराने बिलों की खुदाई करके, उन्हें अपने रहने लायक बना लेती हैं। दीमक के पुराने बिलों को गोह शायद इसलिए पसन्द करती हैं क्योंकि उसमें अधिक मेहनत नहीं करनी पड़ती। दीमक के टीले की मिट्टी काफी भुरभुरी होती है जिसे खोद पाना आसान होता है। यह भी देखा गया है कि आम तौर पर गोह जुलाई-अगस्त के महीने में दीमक के बिलों की खुदाई करती है। एक और बात देखने में आई कि गोह अपने ही पुराने बिलों को भी बार-बार इस्तेमाल कर लेती है।

स्थानीय सपेरों ने बताया कि कभी-कभार एक ही दीमक के टीले में एक से अधिक गोह को बिल बनाते भी देखा गया है। बिलों के अवलोकन के दौरान उसी बिल में एक बार नाग व बैंडेड कुकरी साँप भी दिखाई दिए थे।

गोह दिनचर होती हैं। वे दिन में बिल के बाहर रहती हैं और अपने शिकार की खोज में भटकती रहती हैं। वे अक्सर सुबह-सुबह बिल छोड़ देती हैं और शाम को लौटती हैं व रात बिल में गुज़ारती हैं। जब ठण्ड अधिक होती है तो ये दिन में भी बिल में दुबकी रहती हैं। ठण्ड के दिनों में जब सूरज चमक रहा होता है तभी ये बाहर निकलती हैं और धूप सेंकती हैं।

कालू राम शर्मा (1961-2021): अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन, खरगोन में कार्यरत थे। स्कूली शिक्षा पर निरन्तर लेखन किया। फोटोग्राफी में दिलचस्पी। *एकलव्य* के शुरुआती दौर में धार एवं उज्जैन के केन्द्रों को स्थापित करने एवं मालवा में विज्ञान शिक्षण को फैलाने में अहम भूमिका निभाई।

यह उनकी अप्रकाशित रचना है।

फोटो: *विपुल कीर्ति शर्मा*

फोटो: विपुल कीर्ति शर्मा

RNI No.: MPHIN/2007/20203

प्रकाशक, मुद्रक, टुलटुल बिस्वास द्वारा निदेशक एकलव्य फाउण्डेशन की ओर से, एकलव्य, जमनालाल बजाज परिसर, जाटखेड़ी, भोपाल - 462 026 (म.प्र.) से प्रकाशित तथा भण्डारी प्रेस, ई-2/111, अरेरा कॉलोनी, भोपाल - 462 016 (म.प्र.) से मुद्रित, सम्पादक: राजेश खिंदरी।